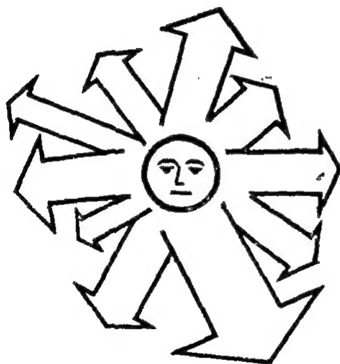
# व्यक्ति की तलाश



चयन प्रकाशन, बीकानेर

# व्यक्ति की तलाश

योगेन्द्र कुमार रावल



प्रकाशक : चयन प्रकाशन, हनुमान हत्था, बीकानेर / प्रथम संस्करण : 1987 /
मूल्य : चालीस रुपयेमात्र / मुद्रक : एस०एन० प्रिंटर्स शाहदरा, दिल्ली-110032

VYAKTI KI TALASH by Yogendra Kumar Rawal

Rs. 40.00

# समर्पण

माँ

(स्व० श्रीमती सुदर्शना देवी रावल)

बा

(स्व० पिताश्री पं० तारानाथ लालजी भाई रावल)

और

बड़े मामा

(रिटायर्ड शिक्षा अधिकारी श्री प्रकाशचन्द्र सेठी)

को समर्पित करने के लिए
इससे अधिक मेरे पास था भी क्या और है भी क्या ?

# आशीर्वाद

योगी जी की आस्थाओं और उनके विश्वासों की कलम के प्रथम प्रकाशन को मेरा आशीर्वाद मिले—ऐसी आकांक्षा उन्होंने की है ! मुझे आश्चर्य है कि योगी जी ने आशीर्वाद देने के लिए या लिखने के लिए मुझे निवेदन किया है। वस्तुतः आशीर्वाद तो उसे दिया जाता है तथा आशीर्वाद का आदान-प्रदान तो उन दो व्यक्तियों के बीच होता है जहाँ दो अलग-अलग अस्तित्वों का आभास होता हो। यह मेरी व्यंजना या अतिरंजना नही है बल्कि वस्तुस्थिति है कि रावल 'योगी' की कलम को आशीर्वाद देना तो मेरी स्वयं की अनुभूतियों, अभिव्यक्तियों को आशीर्वाद देना कहलाएगा, अतः पाठक कही अन्यथा ग्रहण न करें !

हकीकत यही है कि सन् 1966 से योगी जी मेरे सम्पर्क में आए और तभी से उनके आचार, विचार और व्यवहार में मुझे इतना अपनापन महसूस हुआ कि मेरा सद्भावना का मिशन उनमे साकार नजर आया। विश्व के अनेक देशों का भ्रमण करते हुए, आज वैज्ञानिक प्रगति की चरम सीमाओं तथा शक्ति व गति की नवीनतम ऊँचाइयो के 'ग्लैमर' से अभिभूत अनेक राष्ट्रों की अनेक प्रकार की सरकारो, राज्य-व्यवस्थाओं तथा सामाजिक संरचनाओं को देख-समझकर मैं यह स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि व्यक्ति, समाज और सरकार का एक मधुर सामंजस्य और समन्वय कही देखने को नही मिल रहा है। व्यक्ति, समाज और सरकार की ऐसी त्रिवेणी का संगम कही नही मिल रहा है जिसमे अवगाहन करके हम सृष्टि का 'व्यक्ति' 'समष्टि' की एकात्मकतायुक्त स्वच्छता और पवित्रता की 'तरावट' का अनुभव कर सकें। जबकि हालत यह है कि विभिन्न प्रकार के अनेक धर्मों की धार्मिकता के रंग मे रँगा हुआ व्यक्ति अपने मौलिक, वैयक्तिक (Individual) आध्यात्मिकता के ऊँचे-से-ऊँचे तृप्ति-बोध को [illegible] व्यक्ति, समाज और सरकार की सीमाओं में ही युगानुकूल अभिव्यक्त [illegible]न्वित किए बिना उस तृप्तिबोध की सार्थकता महसूस नही कर पाता। [illegible], इस विश्व के धरातल पर हम व्यक्ति, समाज और सरकार के [illegible], सामंजस्यपूर्ण स्वरूप का शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा निर्माण कर [illegible] त्रयी, त्रिकोण और त्रिवेणी विश्व के किसी भी कोने में, [illegible] अपनी मौलिक वैयक्तिकता (Individuality) के साथ [illegible] सुरक्षित आयाम प्रदान कर सके ?

इस प्रकाशन से मुझे स्पष्ट महसूस हो रहा है कि ऐसी ही त्रिवेणी के संगम की आस्था जन-जन में जागृत करने की जबरदस्त ललक झलक रही है। मेरे योगी जी की यह ललक जन-जन के हृदय को स्पंदित करे तो मेरा हृदय पुलकित ही होगा क्योंकि वस्तुतः 'एक-विश्व-सद्भावना-परिषद्' के सद्भावना मिशन द्वारा मैं भी इसी अलख को जगा रहा हूँ।

इति शुभम् !

16/187 गली नं० 7
फैजरोड, करोलबाग,
नई दिल्ली-110005
दूरभाष : 521777, 777147
14-5-1987

—ब्रह्मर्षि आचार्य पुष्पराज

# सन्तोष का स्वर

आचार्य श्री पुष्पराज के आशीर्वाद से मेरा प्रथम पुस्तक प्रकाशन सफल हो रहा है। इसमें अधिकाश वार्ताएँ हैं जो आकाशवाणी, बीकानेर से प्रसारित हुई है। साथी रंजन गौतम का वह आग्रह मैं भूल नही सकता जिसके कारण मैं आकाशवाणी के तत्कालीन कार्यक्रम निष्पादक श्री कमर अहमद से पहली बार मिला और उसी मुलाकात मे उन्होंने मेरी आस्थाओं का 'इन्टरव्यू' लेकर 'गृहस्थ संन्यास' की प्रतिपादक वार्ता से आरम्भ करके फिर एक-से-एक आकर्षक शीर्षक देकर मेरी कलम को अच्छा अवसर प्रदान किया। अत: आकाशवाणी और श्री कमर अहमद के प्रति आभार इस प्रकाशन का प्रथम सोपान है।

आँख की शर्म, सम्बन्धों का लिहाज और पारम्परिक कृतज्ञता का अहसास—इन तीनों मूल्यों के अभाव और अवमूल्यन ने व्यक्ति को व्यक्ति के स्तर पर 'तोडा' है। उधर व्यक्ति, समाज और सरकार की त्रयी के सामजस्य के अभाव ने व्यक्ति को सामूहिक स्तर पर तोडा है। अत: जुड़कर और जोड़कर जीने की आस्था नई पीढ़ी के लिए एक प्रश्नवाचक बन रहा है। वह मानसिक दृढता होती है जो कष्ट और अभाव झेलते हुए भी मानव-मूल्यो के पथ से विचलित नही होने देती और व्यक्ति को वह मानसिक दृढता शिक्षण-प्रशिक्षण के समुचित वातावरण द्वारा मिल सकती है। मेरे इन्ही विश्वासो को मेरी हर रचना मे हर बार आग्रहबद्ध किया गया है जिसमें पुनरुक्ति दोष के बजाय सगीत के 'सम' की पुनरावृत्ति का आनन्दबोध पाठकवृन्द को हो सके तो मैं उनका बौद्धिक स्नेह अधिक प्राप्त कर सकूँगा।

इसी आशा और विश्वास के साथ श्री रामकिशन चौहान के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए यह प्रकाशन मुखरित हुआ—मैं इसी मे सन्तुष्ट हूँ।

रानी बाजार,
बीकानेर (राजस्थान)

—योगेन्द्र कुमार रावल

# क्रम



# आधिभौतिकता के धरातल पर आध्यात्मिकता के सोपान

कल के व्यक्ति की तलाश ! कैसा होगा वह व्यक्ति ? आखिर कल के उस आकांक्षित व्यक्ति के तलाश की आवश्यकता और ललक हमारे अन्तस् में क्यों झलक रही है ? अवश्य यह हमारे किसी-न-किसी आन्तरिक असन्तोष और रिक्तता के अहसास का स्वर है जो कल के व्यक्ति की तलाश के साथ उभर कर मुखर रहा है। अनमने वर्तमान से कचोट खाकर अनजाने भविष्य के न जाने कैसे इन्सान की रूप-रेखा हमने सँजोई है या सँजोना चाहते हैं !!

क्या वह व्यक्ति बुद्ध और महावीर का वीतरागी कर्मबन्धन मुक्त होगा ? क्या वह पुनः किसी रामायण का राम और महाभारत का कृष्ण होगा ? क्या वह रवीन्द्रनाथ टैगोर के स्वप्नों का निर्भीक मस्तिष्क एवं उच्च बौद्धिक चेतना से अभिभूत होगा ? क्या वह तिलक का कुशल कर्मयोगी या अरविन्द का अति-मानस होगा ? अथवा क्या वह क्रोपाटकिन का विशुद्ध अराजकतावादी स्वानुशासित अलौकिक समाजवादी व्यक्ति होगा ? अन्यथा फिर, क्या वह गांधी के अन्त्योदयी से विकसित होकर विनोबा का सर्वोदयी व्यक्ति होगा ?

मानव के चिन्तन के इतिहास ने एक से एक बढ़कर आयाम प्रस्तुत किये हैं, आदर्श व्यक्ति के कीर्तिमान स्थापित किये हैं; फिर भी कल के उस व्यक्ति की तलाश की ललक आज भी वैसी ही बनी हुई है ! इस ललक और रिक्तता के बोध का मूल कारण एक ही है कि गुणात्मक तौर पर "Specimen copy" के रूप में एकाकी स्तर पर एक से एक बढ़कर कीर्तिमान स्थापित हो गये किन्तु सामूहिक एवं सामाजिक स्तर पर संख्यात्मक तौर पर हम अपने आकांक्षित व्यक्ति के बहुवचन का निर्माण नहीं कर सके !

हेमोसेपियन युग से सूतनिक युग तक डंका बजाते हुए भी ये धर्म-धर्माचार्य, मन्दिर-मसजिद-गिरजा-गुरुद्वारे जब धरती से हिंसा, आक्रमण, शोषण, अत्याचार और भ्रष्टाचार को दूर करते हुए सामान्य मानव को (General layman) को—क्योंकि जिन्दगी तो हर व्यक्ति को General layman के सोच ही जीनी पड़ती है—उसको सत्यं शिवं सुन्दरम् का शाब्दिक साक्षात्कार भी नहीं करा सके तब हताश मानव कल के व्यक्ति की तलाश में फिर निकलता है ! परिणामस्वरूप,

या तो व्यक्ति समाज से 'कट कर' जीने लगता है या फिर अपनी 'will to power" को समाज पर थोप कर समाज को 'काट कर' जीने लगता है किन्तु 'जुड़कर' और 'जोड़कर' जीने की कल्पना ही छोड़ देता है !

इस प्रकार परस्पर कटते हुए और काटते हुए हमारा अनमना वर्तमान स्वयं अपने से विद्रोह कराता हुआ हमें एक ऐसे कगार पर लाकर खड़ा कर देता है जहाँ हम न तो आज तक चली आने वाली आस्था-व्यवस्था को अन्तरतम से स्वीकार कर पाते और न ही नवीन-समीचीन आस्था-व्यवस्था का निर्माण करके पुरानी आस्था को अस्वीकार कर पाते ! हम जिस दैनिक जीवन को जी रहे हैं उसकी जैसी भी आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था है उसमें और हमारी व्यक्तिगत आस्था में एक जबरदस्त दरार है—सदियों से चली आ रही है, परिणाम स्वरूप अपने आकांक्षित "General layman" का निर्माण हम आज तक नहीं कर सके ! अपने बुजुर्गों की अंगुली पकड़कर धार्मिक-स्थानों—धर्म ग्रंथों और धर्माचार्यों के चरणों में शीश झुकाता हुआ; बड़े अदब और विनय से सजदे करता हुआ आज का शिशु कल का अव्वल दर्जे का कामचोर, भत्ताचोर, मुनाफाखोर, सूदखोर, करवंचक और आत्म-प्रवंचक तैयार हो जाता है तब हमारी सम्पूर्ण शिक्षा एवं दीक्षा, आस्था एवं व्यवस्था प्रणाली पर एक बहुत बड़ा प्रश्नवाचक लगता है ?

जब तक इस धरती का एक-एक बाबू, एक-एक अफसर; एक-एक व्यापारी, एक-एक कर्मचारी और इस धरती का एक-एक नेता और राष्ट्रपति स्वयं गांधी-ईसा-मुहम्मद और नानक नहीं बन जाते तब तक कल के व्यक्ति की तलाश जारी रहेगी।

तो, कहाँ मिलेगा वह व्यक्ति ? अभी तक एक विकल्प सामने आता है ! मनुष्य की चिन्तनधारा ने आज तक आस्था और व्यवस्था के आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक—ये तीन आयाम पेश किये हैं। धार्मिकता-नैतिकता और आध्यात्मिकता के बुनियादी अन्तर और इनकी परिभाषा को सामान्य व्यक्ति को समझाने की आवश्यकता है। धरती का औसत व्यक्ति धार्मिक आधिदैविक आस्थाओं तक ही अभिभूत होकर इतना सन्तुष्ट हो जाता है कि उसे विकास की अन्तिम मंजिल 'आध्यात्मिक विकास' की ललक ही नहीं रह जाती ! आधिदैविक आस्थाओं के ठेकेदार इतने प्रबल हैं कि सामान्य मानस को अपनी सीमा में ही उलझा कर सन्तोष का आभास करा देते हैं परिणामस्वरूप व्यक्ति आध्यात्मिक सीमा के कगार पर पहुँच ही नहीं पाता ! धार्मिक-नैतिक संगठनों के ठेकेदारों में इतना सामर्थ्य नहीं है कि वे सामान्य नागरिक को आधिभौतिक अभिशापों-लालसाओं-वासनाओं से मुक्त करा सकें। परिणाम स्वरूप आधिभौतिक परिस्थितियों में जीने वाला व्यक्ति आधिदैविक मनःस्थितियों के बीच सामञ्जस्य

नही बैठा पाता। आध्यात्मिकता इस कशमकश मे कही दूर पड़ी रह जाती है। जिसे जानने और पाने से पहले ही शक्ति की सांस निकल जाती है जिसकी लाश भी उसी पूजा-पाठ पुजारी; मौलवी और पादरी की सीमा से बाहर नहीं जा सकती बशर्ते वह लाश आधिभौतिक संवैधानिक आस्थाओं से टकराकर 'पोस्ट-मार्टम' की परिधि में न पहुँचा दी जाय!

किन्तु, मानव के विकास का तकाजा तो यही कहता है कि इस आधिदैविक मनःस्थिति से ऊपर उठाकर व्यक्ति को आध्यात्मिक मनःस्थिति मे पहुँचाना होगा! तब कही सम्भव है कि कल के व्यक्ति की तलाश सफल हो सके! तो, क्या करना होगा इसके लिए? इसके लिए हमे व्यक्ति को सबसे पहले आधिदैविक ठेकेदारों से मुक्त कराना होगा! तत्पश्चात् एक नवीन प्रयोग करना होगा! आध्यात्मिक अनुभूति एवं अनुशीलन हेतु संवैधानिक आस्थाओ को माध्यम बनाना होगा! व्यक्ति-समाज-सरकार और संविधान के प्रति आस्था और निष्ठा को जागृत करके उसको जागतिक धरातल पर वैज्ञानिक दृश्य-श्रव्य साधनों-उपकरणों द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति की ओर अग्रसर करना होगा। व्यक्ति की व्यष्टि को, समष्टि में विलीन करने की प्रक्रिया को हमे नवीन प्रारूप प्रदान करना होगा। धर्मग्रन्थो की तर्कशैली, धर्माचार्यों की उपदेश विधि के स्थान पर वैज्ञानिक अनुसधानो-आविष्कारो तथा संवैधानिक प्रणालियों द्वारा तदनुरूप भाषा-शैली का प्रयोग करके सामान्य-औसत व्यक्ति को चराचर जगत से एकात्मता का बोध कराना होगा! आध्यात्मिकता को अलौकिक-पारलौकिक रहस्यवादी सीमाओ से मुक्त करके साधारण व्यक्ति की दैनिक गतिविधि से जोड़कर उसके दफ्तर, अस्पताल, बाजार, स्कूल-कॉलिज, गली-मोहल्ले मे और यहाँ तक कि धन कमाने के तरीके पर विचार करने में भी आध्यात्मिकता को प्रवेश दिलाना होगा! यह सब सम्भव करने के लिए शिक्षण की प्रक्रिया ही बदलनी होगी! एक-एक व्यक्ति के मानस मे यह आस्था देनी होगी कि कोई भी धर्माचार्य, कोई भी तीर्थ कोई भी ग्रन्थ पाठ और कोई भी दान-दक्षिणा हमारी करचोरी, नियमचोरी, कालाबाजारी-मुनाफाखोरी और किसी भी तरह के कालेकारनामों के कलंक से हमें मुक्त नहीं कर सकेगी! एक-एक औसत व्यक्ति को हमे यह महसूस कराना होगा कि संवैधानिक आस्थाओ-व्यवस्थाओं की तोड-मरोड़ कर 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की परोपकारी ओट लेकर निजी सनक, महत्वाकाक्षा और निजी स्वार्थों की पूर्ति में सुख महसूस करने वालो का सुख उनके 'इष्ट' की कृपा के आधार पर नही बल्कि समाज के—विश्व के 'अनिष्ट' के आधार पर मिल रहा है। इस बुनियादी विचार की गहराई को समझ कर आचार और व्यवहार का अग बना देने के लिए जिस क्षण हम अग्रसर हो जाएंगे उसी क्षण कल के व्यक्ति की तलाश पूरी हो जाएगी। और फिर, कैसा होगा वह

व्यक्ति ?

वह व्यक्ति 'लेबल' मुक्त होगा ! उसके गले में न क्रॉस होगा, न माथे पर तिलक ! वह व्यक्ति न दिगम्बर होगा, न श्वेताम्बर ! न भगवाधारी, न जटाधारी ! वह व्यक्ति होगा—"जुड़ती और जोड़ती हुई आस्था को संजोये हुए; व्यक्ति-समाज और सरकार की त्रयी का सन्तुलन-साधक !" वह व्यक्ति अवैधानिक-असामाजिक आचरणों से भयभीत होता हुआ आँख की शर्म और सम्बन्धों के लिहाज का 'पोस्टमार्टम' करने वाला नहीं होगा ! जागतिक धरातल पर वैज्ञानिक सन्दर्भों में एकात्मता के बोध का हामी होगा !

# गृहस्थ संन्यास—एक विकल्प

मानव ने जितने भी चिन्तन, मनन और विश्लेषण किये, उन सब मे इस बात को निर्विवाद रूप मे स्वीकार किया गया है कि मनुष्य की पाशविक वृत्तियाँ-विकृतियाँ जीवन का अंतिम सत्य नही हो सकती ! साथ-ही-साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा पाशविकता से शाश्वतता तथा नर से नारायण की विकसित स्थिति तक व्यक्ति को पहुँचाया जा सकता है। उस विकसित मानसिक धरातल तक पहुँच जाने वाला व्यक्ति समाज मे कभी भी असंवैधानिक लाछन का पात्र नही बनता बल्कि वह मानव जीवन के संविधान का सुलभ, सजीव सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप मे स्वीकार किया जाता है ! ऐसे सुसंस्कृत मानव के निर्माण के लिए आदि काल से अवतार, तीर्थंकर, पैगम्बर आदि के रूप मे तथा उनके अनुगामी सगठनों के रूप में मानव के प्रयास आज भी जारी हैं ।

इतने प्रयत्नो के बाद भी मानव सर्वसाधारण स्तर पर सुसंस्कृत-कर्मनिष्ठ समाज का निर्माण नही कर सका । विज्ञान की चकाचौंध से समूचे विश्व को—विशेषतः नई पीढी को द्रुतगति से विकास का आभास मिला, आजीविका और 'कैरीयरिज्म' की घुड़-दौड़ का नित नया आयाम भी मिला किन्तु जीवन-दर्शन का, आस्थाओं का वह सूत्रधार नही मिला जो मानव-जीवन मे बिखराव, विसंगति और विशृंखलता से उसे बचा ले जाता ।

परिणामस्वरूप पुरानी-पीढी में यह सामर्थ्य नही कि नई पीढी को सक्षम जीवन-दर्शन के प्रति आस्था स्थापित करने के लिए प्रेरित कर सके और उधर नई पीढ़ी मे यह क्षमता नहीं कि वह किसी उपयुक्त आस्था द्वारा जीवन को स्वयं के लिए स्थायी विधा के रूप मे स्वीकार कर सके ! आखिर जीवन क्या है ? केवल 60-70 वर्ष की उम्र तक जीकर मर जाना ही तो जीवन नही है। केवल अपने आर्थिक-पारिवारिक अस्तित्व को किसी भी कीमत पर बनाए रख लेना मात्र ही तो जीवन नही है । जीवन की उपयोगिता-सार्थकता इस बात में है कि व्यक्ति अपने पारिवारिक-सामाजिक जीवन की सभी धाराओं में स्वय को रचा-पचा कर ओत-प्रोत करके जीये । ऐसा तभी सभव हो सकता है जब वह अपनी विचार-प्रणाली, कार्य-प्रणाली और कार्यकलापों को एक सुदृढ आस्था के सूत्र से

जोड़े। उस आस्था की सार्थकता इस बात मे है कि वह सुपाच्य भोजन के समान जीवन को ओज व आनन्द प्रदान करे। वह आस्था ऐसी हो जो व्यक्ति को इसी दैनिक जीवन के सदर्भो मे से परस्पर ऐसा सुख आनन्द का रस सोखना सिखला सके कि फिर व्यक्ति को मानव-समाज की सीमाओ से परे किसी अलौकिक सुख-आनन्द को खोजने की आवश्यकता महसूस न हो।

संन्यास, वैराग्य तथा मोक्ष की परम्परागत आस्थाओ द्वारा दैनिक जीवन के उत्तरदायित्व से अलग होकर, पलायन करके प्रकृति की गोद मे किसी एकात वास मे सुख और आनन्द की खोज करने वाले व्यक्ति को यदि सामाजिक व्यवस्था की सीमाओ मे ही ऐसा बौद्धिक संयोजन प्राप्त हो जाय, ऐसी समरसता प्राप्त हो जाय तो वह पलायन की कल्पना ही नही कर सकेगा। मनुष्य अपने जीवन मे आदान और प्रतिदान की आशा से जब कुछ प्रदान करता है या कुछ त्याग करता है, तब प्रतिदान न मिलने पर उसकी आस्था टूटती है! संन्यास और एकान्तवास मे जिस त्याग, कष्ट, अभाव, अपरिग्रह और जबरदस्त धैर्य व सहनशक्ति को व्यक्ति बिना किसी प्रतिदान की आशा मे स्वीकार कर लेता है, उसी सबको यदि वह अपनी गार्हस्थिक-पारिवारिक और सामाजिक सीमाओ मे स्वीकार कर ले तो उसी सन्यास का, त्याग और वैराग्य का आन्तरिक सुख-आनन्द व्यक्ति अपने दैनिक जीवन मे ही प्राप्त कर सकता है। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब वैसी ही आस्था के नए आयामो से व्यक्ति को जोड़ा जाय।

आज कहने के लिए और संतोष ले-लेने के लिए सब लोग अपने आप पर विशिष्ट 'लेबल' लगाकर अपने आपको 'स्टॉन्च' यानि कट्टर-प्रतिबद्ध मानकर अलग-अलग वादो पन्थो और 'इज्म' आदि से जोड़कर अपने-आपको आस्था का धनी माने बैठे है। जबकि हकीकत यह है कि एक अनास्था युक्त विखण्डन-बिखराव—हमारे अन्तःकरणो मे ऐसा स्पन्दित हो रहा है जो 'मौका' पाते ही हमारी प्रतिबद्धता, आस्था और दृढ़ता को लाँघकर हमारी ही खिल्ली उड़ाता हुआ फूट निकलता है, हमारे मानवीय मूल्यो और सवैधानिक आचरणो को कुचलता हुआ आगे बढ जाता है! उसी आगे बढ जाने को हमारी आत्म-प्रवचना, हमारी प्रगति, सफलता और उपलब्धि मान लेती है। यही वह मानसिक स्थिति है जिसमे व्यक्ति आस्थाओ के अवमूल्यन को ही मूल्य मान बैठता है —अपने गैर सामाजिक तथा अनागरिक आचरणो को सिद्धान्तो का, यथार्थवाद का जामा पहनाता है। बस यही मानसिक स्थिति व्यक्ति और समाज के लिए बडी भयकर और खतरनाक स्थिति होती है। विडम्बना यह है कि स्पूतनिक युग का मानव आज भी इसी स्थिति से गुजर रहा है। परिणामस्वरूप धर्म-पन्थ-वाद और सम्प्रदाय के स्तरों पर व्यक्ति की व्यक्तिगत आस्था और सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्थाओ के स्तरो पर नागरिक-संवैधानिक आस्थाओं के बीच एक जबरदस्त दरार, यह

बतलाती है कि अभी तक की आस्थाओं का स्वरूप हमारे जीवन को पलायन कराता हुआ अलौकिक-पारलौकिक दिशाओं में तो ले गया किन्तु इसी धरती की सामाजिक और इसी लोक की मानवीय सीमाओं में हमें ढाल नहीं सका।

अतः आवश्यकता अब इस बात की है कि हम लोक-शिक्षण और मानस-प्रशिक्षण का परोक्ष आधार छोड़कर प्रत्यक्ष आधार ग्रहण करें। एक ऐसी आस्था का निर्माण करें जो इसी जन्म में, इसी जन्म के दुखों से छुटकारे का एहसास करा सके, जो यह प्रेरणा दे सके कि मुक्ति मरने के बाद नहीं बल्कि जीते जी हासिल करनी है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि समसामयिक सदर्भों में हम एक ऐसी आस्था का निर्माण करें जो हमारी व्यक्तिगत आस्था और सामाजिक राजनैतिक व्यवस्थाओं के बीच दरार न डाल सके बल्कि दोनों क्षेत्रों की समरसता समन्वयता, एकरूपता का निर्माण कर सके!

एक सुझाव मात्र है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव के मूल अधिकारों और कर्तव्यों के बीच सन्तुलन साधती हुई नागरिक-संवैधानिक आस्था, जो युग सम्मत है, समीचीन है—उसे हम अपने जीवन की केन्द्रीभूत आस्था मान लें तो वह आस्था युग के साथ सजीव और प्रवाहमयी होगी, हमें रूढ़िग्रस्त नहीं करेगी। यह संवैधानिक आस्था हमारे वर्तमान जीवन में सुखपूर्वक सुख की ओर बढ़ने की दिशा प्रदान करेगी। किन्तु इसके लिए एक शर्त होगी कि जिस तरह आज तक धार्मिक स्तर पर व्यक्ति को धर्म-भीरु बनाकर अमानवीय-असामाजिक आचरणों से दूर रखने का प्रयत्न किया गया उसके स्थान पर हमें ऐसी पीढ़ी का निर्माण करना होगा, ऐसे समाज का निर्माण करना होगा जिसका एक-एक व्यक्ति, एक-एक घटक नागरिक संवैधानिक आस्थाओं से अभिभूत होगा तब वह अवैधानिक असामाजिक आचरण करने में लोक-लज्जा से भयभीत होगा। मानवीय मूल्यों और संवैधानिक आचरणों की हत्या करने में उसे ब्रह्महत्या के जघन्य पाप का बोध होगा।

जब ऐसी आस्था का निर्माण होगा तब कोई अधिकारी अपनी पद-लिप्सा और अधिकार का दुरुपयोग नहीं करेगा। तब कोई नागरिक जमाखोरी, तस्करी, कर-चोरी-कालाबाजारी करके अन्धाधुन्ध गति से धनी बनने की कामना नहीं करेगा भले ही उसे और उसकी सन्तानों को वे सुख-सुविधाएं नहीं मिलें जो अनाप-शनाप धन कमाने वालों को मिलती हैं। कोई राष्ट्र पड़ोसी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं करेगा भले ही उसे अपने राष्ट्र को विजयी राष्ट्र बनाने का गौरव तथा तेल व खनिजों का लाभ न मिले।

इन सबके विपरीत संवैधानिक आस्था से अभिभूत होने पर ऐसा व्यक्ति अपने कार्यक्षेत्र में यह महसूस करेगा कि मनुष्य होने के नाते हम सबको सुखपूर्वक जीने का अधिकार है अतः न केवल सुख से जीएंगे बल्कि इस तरह से जीएंगे कि दूसरा भी सुख से जी सके।

# कबीर का 'व्यक्ति'

"कबिरा खड़ा बजार में, लिये लकुटिया हाथ।
जो सिर सौंपे आपणा, चले हमारे साथ।।"

ऐसी खुली ललकार को लेने और देने वाले कबीर को सबसे पहले अपने आप मे कितनी ऊर्जा, क्षमता, साहस, आत्मविश्वास और निर्भीक बल संचित करना पड़ा होगा। इसकी सहज कल्पना वह व्यक्ति नही कर सकता जिसने कबीर को मात्र नीति, उक्ति की अभिव्यक्ति देने वाला तुकान्त कवि मान लिया हो, या फिर इसकी सहज कल्पना वह व्यक्ति भी नही कर सकता जिसने कबीर को निर्गुणिया रहस्यवादी साधक-सिद्ध मान लिया हो, क्योंकि सरे आम खुले चौराहे पर ललकारने के लिए हाथ में लाठी लेकर कबीर खड़ा है, कलम लेकर नहीं! और "सर्वस्व समर्पण करवाकर अपने साथ कंधे से कंधा जोड़कर जहां ले जाना चाहता है कबीर—वह मार्ग और मंजिल न मोक्ष के रहस्य की है, न ब्रह्म के मर्म की! उस मार्ग को समझने की जो क्षमता रखेगा वही व्यक्ति कबीर की इस ललकार को भी समझने का दम भर सकेगा। सिर सौंपना कोई क्रिया, नहीं है, मार्ग है! सिर सौंपना यानि 'Brain washing' करना। मानसिक स्वतन्त्रता यानि बौद्धिक दासता से मुक्ति—जिसके बगैर समता, शुचिता और सच्ची स्वतन्त्रता का शान्त तथा अन्तर्विरोधों (Contradictions) से मुक्त वर्गहीन, वर्गविहीन सामाजिक जीवन इस धरती पर मनुष्य नही जी सकता। किन्तु अपने कपड़ों की और कोठियो की दीवारों की "white washing" करके जीने वाला आत्म प्रवंचक समाज कबीर के "Brain washing" को—सिर सौंपने के मार्ग को—न देख सकता है, न समझ सकता है। वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति और सामूहिक स्तर पर समाज—दोनों के सच्चे और सही स्वतन्त्र जीवन की अवधारणा जो कबीर ने प्रस्तुत की है वह वस्तुस्थिति पर आधारित है। और...वस्तुस्थिति पर आधारित जीवन के ताने-बाने को बुनने वाले जुलाहे कबीर की वस्तुनिष्ठता को सन्देह की दृष्टि से देखना दृष्टिदोष कहलाएगा।...दृष्टिकोण नहीं!

रूढ़िग्रस्तता, लेबल युक्त पंथबद्धता, अन्धभक्तता—इन सबके बोझे को ढोता हुआ व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में मानसिक परतन्त्रताजन्य उत्पीड़न के कष्टो का 'टैक्स' नही भरेगा तो क्या करेगा? इसलिए कबीर का खुला ऐलान है

कि "घाट जगाती क्या करे, जो सिर बोझ न होय।" किन्तु सिर के इस ऊपरी बोझे से मुक्ति तो तब मिले जब अन्दर से सिर सौंप दिया जाय—यानि Brain washing कर दिया जाय।

केवल 'कंगूरों' के बल पर कोई समाज अधिक समय तक जीवित नही रह सकता। जिस समाज का औसत व्यक्ति बौद्धिक दासता से मुक्त नही होगा तब तक मात्र राजनैतिक स्वतन्त्रता निरर्थक होगी। जीवन मूल्यो को तोड़-मरोड़ कर अपनी-अपनी स्वच्छन्दता से अवमूल्यन को ही मूल्य मानकर जीवन जीने वाले व्यक्तियों, नेताओं और धर्माचार्यों द्वारा भ्रमित समाज (ढोंग, असत्य, अनीति अनाचार और अन्धकार पर जीने वाला समाज) छोटे या बड़े किसी भी स्तर पर आखिर कब तक जी सकेगा? आखिर ऐसा समाज हर बीस वर्ष के बाद विनाश के कगार पर खड़ा मौत के जबड़ो में जिन्दगी की खैर मांगता ही दीखेगा। मानव समाज को ऐसी स्थिति से बचाने के लिए एक स्वस्थ समाज की बुनियादी इकाई के रूप में स्वस्थ व्यक्ति की कल्पना कबीर ने प्रस्तुत की। तब प्रश्न उठता है कि कैसा होगा वह व्यक्ति ?

साहित्य के मनीषियों ने कबीर को समन्वयकारी सिद्ध किया है किन्तु ध्यान रहना चाहिए कि समझौतावाद की कड़प लगाये बगैर समन्वय की चादर में कड़क नहीं रह सकेगी और—समझौतावादी व्यक्ति कभी चौराहे पर ललकारने की हिम्मत नही कर सकता। अतः प्रत्येक मत और पथ की आलोचना करना कबीर की समन्वयकारिता का लक्षण नही है बल्कि इस बात का प्रमाण है कि कबीर, मात्र सत्य एवं औचित्य के हामी थे, Reasonability के पक्षधर थे और वह उन्हे जहाँ भी, जितनी मात्रा मे भी मिला, बस, वही और उतनी ही मात्रा में उन्होंने स्वीकार किया। शाक्त पंथियों में कबीर को सबसे अधिक ढोंग और आडम्बर मिला तो कितना बेबाक और बेलाग फैसला कबीर ने दिया—

"साकत से सकूर भला सूचा राखे गाँव"

अतः कबीर विशुद्ध सत्य के हामी थे और उधर जगत् की शाश्वत समस्या क्या है—

"साँच कहूँ तो मारि हैं, झूठे जब पतियाइ।
ये जग काली कूकरी, जे छेड़ै तो खाइ।।"

इसलिए झूठ से पतियाने वाले समाज के व्यक्ति को कबीर बदलना चाहते है। कबीर व्यक्ति को व्यक्ति के स्तर पर अपने आप मे एक शुद्ध बौद्धिक स्वतन्त्र इकाई बना देने का आह्वान करते हैं। कबीर व्यक्ति के "Reason" को जागृत करना चाहते हैं! ऐसे जागरूक व्यक्ति को फिर पुराण से उलझा हुआ पुरोहित और कुरान से उलझा हुआ काजी बहका कर मानव समाज से काट कर अलग ले जाना चाहेगा तो कबीर का 'व्यक्ति' सब खतरों को मोल लेकर भी 'एकला

चलो रे' का दम भरके भी, हिम्मत के साथ भरे बाजार मे बोलेगा पंडित से कि—

"जो तू बांभन बभानी जाया,
आन बाट तू क्यो नही आया ।"

और काजी से कहेगा कि—

"जो तू तुरक तुरकनी जाया,
तो भीतर खातना क्यों न कराया ।"

इसलिए कबीर को अफसोस है कि एक न भूला, दोई न भूला, भूला सब संसारा ! ऐसे भूले-भटके हुए ससार के मानव समाज की इकाई को जागरूक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में कबीर निर्माण करना चाहते है।

बिल्कुल 'Emotional' नही बन कर, सर्वथा—'Rational' बनकर कबीर का सत्यनिष्ठ-वस्तुनिष्ठ-व्यक्ति जब समझौता भी नही करेगा तब कही, वह अक्खड रूँख की भाँति समाज की समरसता को तो नही खो देगा ? किन्तु इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर भी महत्वपूर्ण है।

"जाको दूध धाई कर पीजैं
ता माता को वध क्यो कीजै ?"

गाय के प्रति भी जो व्यक्ति इतना कृतज्ञ और 'Reasonable' है वह समाज के प्रति कृतघ्न नही हो सकता । समाज के निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग की अतियों के बीच कबीर ने 'गृहस्थ सन्यास' का जो दर्शन अनुपम व अनूठा पेश किया है वह व्यक्ति को समाज से कट कर या समाज को काट कर जीना नही सिखलायेगा बल्कि वह दर्शन व्यक्ति को समाज से जुडकर और जोड़कर जीना सिखलाएगा । कबीर का गृहस्थ सन्यासी व्यक्ति आदि-अनादि काल से चली आने वाली परिग्रह की जहरीली मानसिकता का सही उपचार करता हुआ समाज से जुडकर कहेगा—

"साई इत्ता दीजिये, जामे कुटुम्ब समाय
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।"

कितनी सुन्दर, स्वानुशासित, स्वेच्छाजन्य मर्यादा रेखा को कबीर का व्यक्ति अपने समाज की समरसता की खातिर खीचकर चलता है ! किन्तु इस रेखा को खीचते समय ब्रह्मवादी आस्था को साक्षी एवं निर्णायक बनाकर समष्टि के प्रति व्यष्टि को जागरूक रखता है।

साम्यवाद ने व्यक्ति को यंत्र बनाया, पूँजीवाद ने अबाध व्यक्तिवाद को जन्म दिया । गांधी ने आगे चलकर कहा—"यदि व्यक्ति से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छीन ली जाय तो वह एक स्वचालित यन्त्र बन जाता है किन्तु अबाध व्यक्तिवाद भी वन्य पशुओं का नियम है । सामाजिक संयम के आगे स्वेच्छापूर्वक सिर झुकाने में व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण है" । बिल्कुल इसी स्वेच्छापूर्वक सामाजिक

संयम को कबीर का व्यक्ति पेश कर चुका था। विनोबा ने कोरे साम्यवाद को जब अहितकर पाया तब 'साम्य योग' को प्रस्तुत करके साम्यवाद का आध्यात्मीकरण किया! बस, 'साईं इता दीजिये ' कहकर ब्रह्मवादी आस्था को साक्षी रखते समय कबीर ने साम्यवाद का आध्यात्मीकरण किया था। कबीर के राम, कबीर के ब्रह्म और कबीर के रहस्यवाद को व्यक्ति और समाज के इसी वस्तुस्थिति के धरातल पर धारण करने की आवश्यकता है।

व्यक्ति, समाज और साम्य योग की इतनी गुत्थियां सुलझाकर भी आचरण में अशुद्धि रही तो फिर कबीर का 'व्यक्ति' उसी चौराहे पर भरे बाजार में ललकार कर कहेगा—

> "कथनी कथी तो क्या भया
> जो करणी ना ठहराइ।"

---

[1] दिनांक 13 जून 1981 को कबीर काव्य और उसकी वस्तुनिष्ठता शीर्षक से यही वार्ता आकाशवाणी, बीकानेर से प्रसारित हुई थी!

—योगेन्द्र कुमार रावल

# नाड़ी विज्ञान शिक्षण–एक समाधान

मानवीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे सैक्स के स दर्भों में, आने वाले कल का व्यक्ति, क्या भर्तृहरि, बुद्ध और महावीर-सा गृह-त्यागी होगा ? क्या वह पुनः किसी रामायण का हनुमान और महाभारत का भीष्म होगा ? क्या वह दयानन्द, विवेकानन्द और अरविन्द की पुनरावृत्ति होगा ? अथवा, क्या फिर वह कबीर, नानक और *गाधी की भांति गृहस्थ-संन्यासी होगा ? नही तो फिर क्या वह पूर्व मे नोआ*खाली के गाधी और पश्चिम मे फ्रायड की भांति प्रयोगवादी होगा ?

एकाकी स्तर पर 'Specimen copy' के रूप मे एक से एक बढ़कर आयाम मानव के चिन्तन ने प्रस्तुत किये हैं किन्तु जिन्दगी तो हर व्यक्ति को 'General Layman' के बीच जीनी पड़ती है और उसी 'General Layman' को आज तक मानव की आस्था-व्यवस्था, सैक्स के सम्बन्धो मे मर्यादित, अनुशासित, संयमित तथा लोकचर्चा से मुक्त-सतुष्ट नही कर सकी। अतः कल के उस व्यक्ति के तलाश की ललक आज भी झलक रही है !

जो धार्मिक सगठन धर्म और आध्यात्म के नाम पर सैक्स को मर्यादित करने चले वे स्वय भी इसी सैक्स के शिकार बनकर, आत्म-प्रवचना से ग्रसित होकर जीये और जी रहे है। शकराचार्य द्वारा बौद्ध सघों का उन्मूलन, वाममार्गियों का प्रचलन, कैथोलिक विरोधी प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन आदि अनेक प्रसंग इतिहास के अतीत मे पहुँच चुके हैं जबकि वर्तमान के भी विभिन्न धर्म-सगठनो के आन्तरिक भ्रष्टाचार किसी सीमा मे कम नही हैं, जिनको उनके भक्तगण जानबूझ कर भी अनजाना करते हुए, विरोध के नैतिक साहस के अभाव मे टाट पर रेशम का पैबन्द लगाते हैं।

जिन सांस्कृतिक सन्दर्भों पर हम गौरव करते आए हैं उन्ही मे जब विरोधाभास, खोखलापन और प्रभावशून्यता दिखाई देती है तभी व्यक्ति या तो समाज से 'कटकर' भर्तृहरि, बुद्ध, महावीर, दयानन्द और विवेकानन्द बनकर गृह-त्याग की संस्कृति स्थापित करता है या फिर समाज को 'काट कर' भोग की विकृति प्रदर्शित करता है। सैक्स की इसी भोग प्रधान विकृति का प्रभाव नई पीढ़ी पर मनचले शोहदों की फब्तियो, अड़गियों और कनखियो मे दिखाई देता है। यही सैक्स की विकृति, राखी बन्द भाई का जामा पहन कर, मानवीय सम्बन्धों को गुमराह करती

हुई, रक्षाबन्धन के गौरव को भी धूल में मिलाती है! सैक्स की यही विकृति कन्याओं, छात्राओं, यौवनाओं में स्वच्छन्दता के प्रदर्शन के रूप में प्रकट होती है। कुछ तथाकथित प्रगतिशील वर्ग सैक्स की मर्यादाओं की प्रतिक्रिया के रूप में ही 'फ्री सैक्स सोसाइटी' का स्वांग भरते हुए आधुनिकता का दम भरने के लिए क्लब, सोसाइटी, तथा परस्पर मित्रवर्ग में ही सैक्स का आदान-प्रदान करके सन्तोष की सांस लेते हैं। तीसरे वे हैं—जो न 'कट कर', न 'काट कर' बल्कि स्वयं ही कुंठित होकर सज्जनता का जामा ओढ़कर तेजशून्य विक्षिप्त जीवन जीते हैं तथा 'अंगूर खट्टे' कहकर सैक्स और मानवीय सम्बन्धों को ही कोसते हैं।

उधर विदेशों में मानवीय सम्बन्ध सैक्स के अतिरंजित अभिशापों से ग्रसित हैं तो इधर कुंठित सैक्स तथा चरित्र की आत्म-प्रवंचक परिभाषा ने संक्रान्तिपूर्ण मनःस्थिति में हमारे मानवीय सम्बन्धों को दुःखान्त कर रखा है!

एक तरफ दयानन्द-विवेकानन्द के ब्रह्मचर्य के आदर्श और दूसरी तरफ आज 1978 में भी खुले वेश्यालय, तड़पती बदनाम विधवाएं, अरक्षित अनाथ कन्याएं, पद और पैसों के बल पर लूटा, खरीदा और बुलाया जाता हुआ यौवन—क्या गांव क्या शहर?—सब के घर-परिवारों में निराश होकर रिश्ता मोड़ते हुए व जहर खाकर दम तोड़ते हुए प्रेमी; समाज और कानून के पाटों में पिसते हुए गर्भपात के आलोचनात्मक नजारे; अनमेल विवाह से दुःखी होकर दिल-दिमाग से कटते हुए पति-पत्नी; जाति-बिरादरी में अपनी नाक रखने और कटने वाली चिन्ता की चिता पर चढ़े हुए मां-बाप - ये सब जब सैक्स की छलना से छलनी हुए जाते हैं तब सब धर्म-धर्माचार्य और धर्म-स्थान मूक व मौन नजर आते हैं—उस समय फिर अस्पताल, कचहरी, पुलिस तथा संविधान की धाराएँ मार्ग प्रशस्त करती हुई अन्तिम फैसले देती हुई नजर आती है। इन अवसरों पर व्यक्तिगत आस्था और सामाजिक संवैधानिक व्यवस्था के बीच एक जबरदस्त दरार दिखाई देती है जो सैक्स के सैद्धान्तिक जनाजे और व्यावहारिक तकाजे का समन्वय नहीं बैठाने देती। ऐसी स्थिति में 'जनरल ले मैन' के बीच जीता हुआ व्यक्ति जब व्यंग्य-आलोचना की उंगली का निशाना बनता है, नाक रखने और कटने का आधार बनता है तथा जब उसका सैक्स और मानवीय सम्बन्ध चरमराता है तब मजबूर होकर वह कल के व्यक्ति की तलाश में निकलता है।

तो कहां मिलेगा वह व्यक्ति? सैक्स और मानवीय सम्बन्धों को सुलझे हुए व्यावहारिक तकाजे से निभाने वाले कुंठामुक्त व्यक्ति को रामायण, बाइबिल और कुरान में खोजने की अपेक्षा शरीर-चिकित्सा और नाड़ी विज्ञान में खोजा जावे तो अधिक समीचीन होगा। शरीर शास्त्र के अन्तर्गत कुंडलिनी शक्ति को मानव शरीर की प्रचण्ड क्षमतावाली शक्ति माना गया है। यह कुंडलिनी शक्ति कामुकता के मार्ग से पतनोन्मुख होती है और ऊर्ध्वगमन के मार्ग से तेजस्वी होती है।

कामुकता का उद्‌गम सुषुम्ना संस्थान में होने से वह कुंडलिनी की ही एक लहर मानी जाती है। चूंकि सुषुम्ना केन्द्र नाभि की सीध में होता है अतः नाभि के केन्द्र को सजग व सशक्त करके सैक्स की ऊर्जा को इन्द्रिय मनोरंजन का साधन न बनाकर, इस ऊर्जा को उच्च स्तरीय सृजनात्मक दिशाओं में अग्रसर किया जा सकता है। कामेच्छा को बलपूर्वक दबाने पर वह और भी उग्र हो जाती है जिससे शारीरिक-मानसिक उपद्रव खड़े हो जाते हैं। सैक्स की अतृप्ति से उत्पन्न अशान्ति से बचने के लिए यदि साहित्य-सृजन, समाजसेवा, शोधकार्य, जीवटकार्य, कुंठित धार्मिक पिष्टपेषण की अपेक्षा आध्यात्मिक चिन्तन आदि की दिशाओं में सैक्स की ऐनर्जी को दिशा परिवर्तन दिया जाये तो मानवीय सम्बन्धों में स्वस्थता, स्वाभाविकता, सरसता, उन्मुक्तता, विशालता और उदारता का समावेश होगा! ब्रह्मचर्य की वैज्ञानिक धारणा भी इसी ओर संकेत करती है।

ऐसी वैज्ञानिक धारणा से सुलझा हुआ सैक्स का स्वरूप जब एक-एक साधारण व्यक्ति को भी स्पष्ट होगा तब जीवन में मानवीय सम्बन्धों के नये मूल्य लिये हुए कल के व्यक्ति की तलाश सफल हो सकेगी। तो क्या करना होगा इसके लिए? हमें सबसे पहले सैक्स की धारणा-मान्यता और रीति-नीति को धर्म-स्थानों, धर्म-ग्रंथों और धर्माचार्यों के चंगुल से मुक्त कराना होगा। इसके बाद केवल विशिष्ट समुदाय की सीमा में नहीं बल्कि जागतिक धरातल पर सैक्स के प्रति बुनियादी धारणाओं को बदलने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सैक्स-पाठ्यक्रम की एकरूपता लाते हुए शिक्षा और शिक्षण का नया मोड़ लाना होगा! सैक्स से सम्बन्धित जितनी भी सामाजिक समस्याएं हैं उन सब में नाक कटने और नाक रखने की कसौटी को जाति-बिरादरी, पड़ोसी-हितैषी, सगे-सम्बन्धी की सीमा से निकाल कर उसे संवैधानिक सीमाओं में ले जाना होगा! विवाह, तलाक, गर्भपात, विधवा-विधुर, प्रेम-सम्बन्ध आदि सबकी रीति-नीति को जन्मपत्री और पूर्व-जन्म-पुनर्जन्म की कर्मफल मीमांसा की सीमा से निकाल कर उसे व्यक्ति-समाज और सरकार की व्यवस्था-मीमांसा में जोड़ना होगा जिससे कि इन समस्याओं के कारण और निवारण का उत्तरदायित्व हम अपने ऊपर ले सकें, किसी अज्ञात शक्ति के नाम पर थोपकर पलायन न कर सकें। इन सबके अतिरिक्त आवश्यक यह होगा कि सैक्स को हमें शरीर विज्ञान का अंग मानकर सैक्स की अभिव्यक्तियों को बहुत ही सजीदे तौर-तरीकों की मर्यादाओं में बांधते हुए भी 'छुई-मुई' बनने से बचाकर इतनी खुली छूट भी देनी होगी जिससे कि कुंठाएं नहीं पनपा कर हम अपने सामाजिक जीवन में सैक्स के ऐसे खुले आयाम दे सकें कि हम अपने आप को 'रिलैक्स' महसूस कर सकें। इन बुनियादी चिन्तन धाराओं के अनुसार 'रामराज्य' के 'धोबी' और 'मन्थरा' जैसे 'General Layman' तक की मानस शुद्धि तथा मानस निर्माण हम करेंगे तब कल के उस व्यक्ति की तलाश पूरी हो सकेगी। तब फिर कैसा होगा

वह व्यक्ति ?

वह व्यक्ति, धर्म-सम्प्रदाय के 'लेबल' से मुक्त होगा ! वह न बुद्ध-महावीर-सा गृहत्यागी होगा, न सुरा-सुन्दरी का भोगी होगा। वह व्यक्ति न तो रुक्मिणी-हरण करने वाला वनचारी कृष्ण होगा, न चीर-हरण करने वाला वृन्दावन का घनश्याम होगा ! उस व्यक्ति के मुंह पर न आडी पट्टी होगी, न चौडी पट्टी होगी। वह न बाल ब्रह्मचारी होगा, न वृद्ध संन्यासी होगा। वह व्यक्ति—"जुडती और जोड़ती हुई आस्था को संजोये हुए, व्यक्ति, समाज और सरकार की संवैधानिक सीमाओं में कुंठारहित सैक्स के स्वस्थ मानवीय सम्बन्धों से दिल-दिमाग को 'रिलैक्स' करता हुआ मानव जीवन की तेजस्विता का वरदान होगा।"

# अति दर्शन से दंशित नारी

नारी ! इस सृष्टि की अन्तिमतम-सुन्दरतम-सर्वोत्तम रचना !! पुरुष की चेतना, सहित्य-कला की साधना, कल्पना व चिन्तन की आराधना का आधार !!- आदि-अनादि काल से मानव की पूजन-प्रवृत्ति का प्रवाह, प्रकृति, पशु-पक्षी, वनस्पति से आगे बढकर नारी पर केन्द्रित हो गया। नारी की रचना के रोम-रोम मे और उसकी क्रियाओं के कदम-कदम मे अलौकिकता की अनुभूति से अभिभूत हुआ पुरुष नारी को पूजने की पराकाष्ठा पर पहुँचाकर यहां तक घोषित कर बैठा कि जहां नारी का पूजन होगा वहां देवता निवास करेंगे। नारी के भीने-भीने आंचल की भीनी-भीनी सुगन्ध मात्र से बौराया हुआ पुरुष अपने शैशव काल के संरक्षण की स्मृतियो मे खोया-खोया बोल उठा—"नारी, तुम केवल श्रद्धा हो।" पौराणिक काल से शिव की गोदी मे बैठी पार्वती का स्वरूप यह प्रमाणित करता है कि ज्ञान, शक्ति, कला और सृजन व संहार के शिवत्व की गोद मे कैलाश की ऊँचाई पर नारी का प्रतिष्ठापन करके पुरुष ने अपनी समस्त श्रद्धा कृतज्ञता मानो नारी के चरणो मे समर्पित कर दी और स्वय फिर रिक्तता की अनुभूति करता हुआ दिवालिया घोषित हुआ था, सुध-बुध खोया-सा हिमालय की तराई मे तृप्ति अनुभव करने का असफल प्रयास करने लगा। हिमालय की ऊँचाई पर नारी को बैठाकर हिमालय की तराई मे स्वयं खोया-खोया-सा निहारता हुआ पुरुष भूल गया कि नारी इसी धरती की धरा पर जीने वाली मात्र एक जीवन-धारा है जिसे बौराया-भरमाया हुआ पुरुष अब तक सही रूप में समझ नही सका।

पुरुष की इसी नासमझी की पराकाष्ठा पुरुषो के धर्मराज युधिष्ठिर के धर्माचरण मे देखने को मिली जब नारी द्रौपदी के लिए धर्म और नीति ने आदेश दिया—'बाँट कर खाओ—दाँव पर भी मेलो।' उस समय नारी से न सलाह ली गयी, न अनुमति। चीर हरण करने या कृष्ण की साख की धाक वापस जमाने के लिए चीर प्रदान करने का स्वांग रचा गया, जिसका माध्यम बनी—नारी। ठीक इसके बाद, महावीर ने गृह-त्याग बनाम नारी-त्याग करते समय नारी की अनुमति की औपचारिकता तो निभाई किन्तु मोक्ष मार्ग मे उसे साधक समझा हो ऐसा मालूम नही होता, तो उधर बुद्धदेव भी इसी परपरा मे कोई नई कड़ी

जोड़कर नया आयाम पेश कर सके हों—ऐसा भी नजर नहीं आता। ढाई हजार साल बाद यदि पुरुष की कलम यशोधरा नारी की समझदारी की वकालत करे कि—

'सखि वे मुझ से कहकर जाते।
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते?'

तो मात्र इस वकालत भरी सहानुभूति से न तो नारी की समस्या का समाधान हो सका और न ही नारी के प्रति बुद्धदेव का भ्रम दूर हो सका—मुक्त लोक में भी! मर्त्य लोक में तो अंतिम दम तक नारी को मोक्ष मार्ग का बाधक ही माना था—बुद्धदेव ने, और इसीलिए उन्होंने अपनी ओर से अपने शिष्य आनंद को यह अनुमति नहीं दी की बौद्ध संघों में नारी को दीक्षा दी जाय फिर ठीक इसके बाद संत-परम्परा में भर्तृहरि के वैराग्य-शतक से लेकर सूर-शतक तक नारी को कहीं पाप का मूल बताया तो कहीं प्रेम का मूल। पर बुनियादी भूल से पुरुष कहीं भी मुक्त होता हुआ नजर नहीं आया। ऐसी भूल कि जो उसे नारी के प्रति अत्ति-दर्शन से प्राप्त हुई। मानव संबंधों को स्वस्थ सामजस्यपूर्ण 'आचार' प्रदान करते-करते उसी अति-दर्शन से ग्रसित होकर संत-परम्परा के महासंत तुलसीदास भी 'अत्याचार' प्रदान करते हुए लिख बैठे कि नारी ताड़न की अधिकारिणी है। ताड़न योग्य प्राणियों की पंक्ति में नारी को खड़ा कर देने पर शिव की गोदी में विश्राम करती हुई पार्वती तिलमिला उठी।

महन्तों और सन्तों के बाद बीड़ा उठाया साहित्यकारों ने। धर्म के धनी जब दिवाला घोषित कर बैठे; उधर तलवार के धनी यह कहकर पूर्ण विराम लगा चुके कि वीर पुरुष ही नारी और भूमि का भोग कर सकते हैं तब कलम के धनी नारी के घावों को सहलाने के लिए अवतरित हुए। कलम बोली— "है अपना हिन्दुस्तान कहाँ, वह बसा हमारे गाँवों में।" और फिर गाँव किसान और नारी की जबरदस्त वकालत करते हुए मुंशी प्रेमचंद बड़ी हिम्मत के साथ आगे बढ़े। यह नहीं भूलना होगा कि उन्हें भी नारी की वकालत करने के लिए दूसरी नारी का आश्रय लेना पड़ा (प्रेमचन्द ने दो विवाह किये थे)। गाँव, किसान और नारी के विशेषज्ञ साहित्यकारों ने उभारकर, प्रायमिकता देकर, जोर देकर इस बात को महसूस करने की कोशिश नहीं की कि अस्सी प्रतिशत भारत की भारतीय नारी—कोमलांगिनी नारी—बोझा ढोने से लेकर बूझा काटने तक खेती की सब कठोर प्रक्रियाओं को पूर्ण कर रही है और पुरुष ? उकडू बैठा चिलम पी रहा है—वह चिलम कि जिसको भरा भी नारी ने है। इस पर भी तुर्रा यह कि प्रसव और दुग्धपान की शारीरिक रचना की दुहाई देकर नारी को कठोरता से दूर कोमलता का प्रतिमा घोषित कर नारी को कल्पना, कलम, कर्म और कानून से छला जा रहा है। उधर हकीकत यह है कि तथाकथित कोमलांगी नारी खेती की

कठोर कर्म-भूमि पर उत्पन्न करती-करती सन्तान भी उत्पन्न कर रही है फिर भी नारी कोमलता के कारण गृह-सीमा में सीमित रहने की अधिकारिणी मानी गई। कैसा विचित्र विरोधाभास है! कैसी विडम्बना है!! कितनी जबरदस्त आत्म-प्रवचना है!!! *अफसोस और अत्याचार की पराकाष्ठा यह है कि लज्जा और शील* की दुहाई देकर—परदे की ओट में भारत के पांच लाख गांवों की भारतीय नारी घूंघट और घाघरे का वजन ढोती हुई खेती और मजदूरी के कठोर कर्म व कठोर यन्त्रणा का वजन ढो रही है। घर और बाहर, गाँव और शहर दोनों क्षेत्रों में कर्म करती हुई नारी को पुरुष की वासना की 'वैराइटी' के व्यापार में भी साझेदारी निभानी पड़ती है। इतने पर भी समझदारी और जिम्मेदारी नारी में कम मानी जाती है।

बेलन चलाने से लेकर तलवार चलाने तक; सिलाई की मशीन चलाने से लेकर जहाज की मशीन चलाने तक; खेतों की नीराई से लेकर हिमालय की चढाई तक, विरह की अग्नि में तपने से लेकर जौहर की ज्वाला में जलने तक; गाँधी की आँधी में बदूकों की नोक के आगे अड़ने से लेकर सुभाष की आजाद हिन्द फौज में बदूकों से लड़ने तक, कृष्ण की भक्ति से लेकर रामकृष्ण परमहस की विरक्ति तक नारी ने क्या नहीं किया? पर बदले में उसे क्या मिला—भ्रूणहत्या, गर्भपात, बलात्कार, वेश्यावृत्ति, अपहरण, तलाक, विरह-वेदना, विधवा-यातना और मिला—निर्जीव वस्तुओं की भाँति, पसद आते ही महलों की रानी और हरमों की बेगम बनाकर, सग्रह कर लिये जाने से लेकर समुद्र पार बिक जाने का व्यापार तथा बहुत ज्यादा मिला—रास्ते चलते मनचलों की फब्तियों, चुटकियों और कनखियों का खुदरा बाजार।

यह सब कुछ आदिकाल से आज तक ऐसा ही चला आया है, चल रहा है। साफ दिख रहा है कि सैक्स के सावन का अन्धा पुरुष सैक्स के ही इर्द-गिर्द नारी को हरा तो देखता आया है किन्तु आज तक नारी को न पूरा देख सका, न खरा। सैक्स की समस्या को छेनी और उसी के मनगढन्त समाधान की रेती से नारी के स्वरूप को तराशा गया है। उस तराशने में पुरुष और उसका समाज नारी को तलाश नहीं सका। ईश्वर के मामले में मानव 'नीति-नीति' कहकर निराश हो गया तो नारी के चरित्र और स्वभाव के लिए 'त्रिया चरित्र' कहकर हताश हो गया अन्ततोगत्वा चाहे नारी आचार का हो या विचार अथवा सदाचार का, किन्तु नारी को तो मिला एक ही अभिशाप—'अत्याचार' का!

किन्तु इस अत्याचारी, बलात्कारी संस्कृति बनाम विकृति से केवल नारी ही नहीं बल्कि पुरुष को भी मुक्ति तभी सभव हो सकेगी जब पुरुष के इस अतिदर्शन से मुक्त होकर, पुरुष द्वारा आज तक थोपे गये इन भ्रामक आदर्शों के स्थान पर नारी स्वयं नारी के स्वरूप को पेश करे और मानव व्यवहारों का प्रतिष्ठापन करे।

जहाँ तक नारी की बुनियादी समस्या का प्रश्न है—यह समस्या केवल भारतीय सीमाओं और विशेषणो मे सीमित नही है। नारी की समस्या और समस्या के रूप मे नारी एक जागतिक समस्या है। पुरुष के अति-दर्शन से ग्रसित नारी युग-युग से जहाँ स्वयं सन्त्रस्त रही वहाँ पुरुष भी तृषित और असन्तुष्ट रहा। एक तरफ पुरुष ने भर्तृहरि, महावीर, बुद्ध, दयानन्द और विवेकानन्द बन कर नारी साहचर्य के पावन-प्रवाह को ही अवरुद्ध कर दिया तथा सैक्स को मर्यादित करने की धुन मे सात तालो और सत्तर परदो मे उसे बन्दी बनाने का असफल प्रयास किया तो दूसरी तरफ पश्चिम के देशो ने नारी को भोजन-वस्त्र की तरह परिवर्तनशील रुचि की सामग्री बना दिया। परिणामस्वरूप, यथोचित स्वाभाविक सीमाओ में सैक्स के फूटते हुए निर्मल उन्मुक्त झरने से शीतल तृप्ति-दायक संजीवन अमृतपान करने की व्यवस्था सोचने के बजाय जनपथ पर प्रतिक्षण सुलभ बहते हुए नालो मे से सैक्स का आचमन करने वाले पुरुष को झरने का अमृतपान आज तक नही मिल सका। अतः अतिदर्शनजन्य अत्याचारी विकृति के स्थान पर स्वस्थ—सदाचारी संस्कृति का निर्माण करने के लिए जागतिक धरातल पर नारी सम्बन्धी मान्यताओ का परिमार्जन करना होगा। सदैव पुरुष द्वारा, उसकी थोपन-क्रिया द्वारा, थोपे गये भ्रामक आदर्शो की अपेक्षा वर्तमान के मानव व्यवहारो का समाज मे निर्माण करना होगा। नई पीढ़ी को नये मूल्यों मे ढालना होगा। मानव समाज को यह समझना ही होगा कि नारी न देवी है, न दानवी, न पाप की जड़ है, न धर्म का मूल, न गुण की खान है, न अवगुण का भण्डार! नारी, मात्र नारी है। जिन गुणों-अवगुणो से, सबलताओ-निर्बलताओं से पुरुष सचालित है उन्ही से नारी भी परिचालित है। शारीरिक-जैविक गठन के अन्तर की दुहाई देकर नारी को न हिमालय पर बैठाने की आवश्यकता है, न रसातल मे भेजने की। नारी को इसी धरातल का जीवन जीने का पूर्ण एव स्वाभाविक अधिकार मिलना चाहिए। और नारी को भी चाहिए कि सदियों-सदियो से पुरुष द्वारा थोपी गयी मानसिकता से स्वय को मुक्त करे। नारी स्वयं नारी की वकालत करने के लिए आगे बढे अन्यथा नारी की समस्या का सही समाधान कभी नही आ सकेगा। सीता-सावित्री-दमयन्ती आदि सबकी व्याख्या देवियो और सतियो के रूप मे नही बल्कि स्वाभाविक नारी के रूप मे करनी होगी। नारी को अपनी सुरक्षा के लिए किन्ही लक्ष्मणो द्वारा लक्ष्मण रेखाएं खिचवाने के बजाय स्वय को शारीरिक-मानसिक-आत्मिक शक्तियो के बलबूते पर आत्मनिर्भरता के साहस की रेखाएं स्वय खीचनी होगी। नारी स्वयं अपने स्वरूप और स्वभाव की सबलताओं-निर्बलताओ की सम्भावनाओ के हर सम्भव आयाम अपनी ही कलम और तूलिका से पेश करे तभी पुरुष के अतिदर्शन जन्य अत्याचारी-बलात्कारी संस्कृति बनाम विकृति का समाधान हो सकेगा।

# सामाजिक क्रान्ति की नई धाराएँ

मानव जीवन सामाजिक सन्दर्भों की देन है। अतः किसी भी व्यक्ति-विशेष अथवा समूह-विशेष के मन-मस्तिष्क मे उत्पन्न होने वाली क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति का रूप धारण करती है। मानव का इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। इग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति, फ्रान्स की जनक्रान्ति, भारत की 1857 की क्रान्ति, रूस व चीन की क्रान्ति, भारत की आजादी के सन्दर्भों मे गरम दल की क्रान्ति, वर्तमान सन्दर्भों मे हरित क्रान्ति, श्वेत क्रान्ति, यूथ रिवोल्ट के रूप मे युवा क्रान्ति और फिर जे० पी० की सम्पूर्ण क्रान्ति तक क्रान्ति शब्द का वैविध्य और वैचित्र्य पढने-सुनने व देखने को मिला है। फिर भी मानव का मन किसी सन्तोष की सीमा पर नही पहुँच सका और आज भी सामाजिक क्रान्ति की नई धाराएँ खोजने की ललक दिखाई पड़ती है।

रूस की क्रान्ति आधुनिक युग की मानी हुई क्रान्ति रही है किन्तु आधी शताब्दी भी पूरी न गुजर सकी कि सन् 1977 की जून में यह घोषणा सुनी कि रूस मे पूंजी की व्यक्तिगत छूट वापस स्वीकार कर ली गई। तब यह सोचने को मजबूर होना पड़ा कि आखिर मनुष्य को चैन कहाँ मिलेगा ? इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति ने भी तो मनुष्य को चैन नही लेने दिया। गांधी और विनोबा की ग्रामाभिमुखी क्रान्ति उसका पूरक होने का दावा करती हुई दिखाई दीं। यदि आजादी के लिए मात्र विस्फोटक तत्त्व बन जाना ही क्रान्तिकारी बनने के लिए काफी है और यूथ रिवोल्ट के नाम पर वर्तमान का विरोध कर देना मात्र ही युवा क्रान्ति कहला सकती है तो जहाँगीर का विद्रोह भी क्रान्ति की संज्ञा पा ले तो कोई आश्चर्य नही ! विश्व की नई पीढी वस्तुतः क्रान्ति की इसी शाब्दिक भूल-भुलैया मे भूलती हुई, जलजले अतीत से जलती हुई, अनमने वर्तमान से बहकती हुई क्रान्ति के नाम पर न जाने कौन से अनजाने भविष्य का निर्माण करना चाहती है ?

प्रत्येक क्रान्ति मे से प्रतिक्रान्ति उभरती आई है ! यही कारण है कि मनुष्य अपने हर युग में, हर नये सन्दर्भो में क्रान्ति की नई धाराएँ खोजता है !

वस्तुतः क्रान्ति, सामाजिक परिस्थितियों का परिवर्तन मात्र नही है। किन्ही आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक शक्तियों, परिस्थितियो और समझौतो का मात्र

परिवर्तनकारी लेन-देन नही है। क्रान्ति, किसी व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेष की आकांक्षाओ की पूर्ति हेतु किया जाने वाला मात्र आन्दोलन नही है बल्कि क्रान्ति, वह जीवन दर्शन है जो किसी युग-विशेष की सम्पूर्ण सामाजिक मानस की दार्शनिक तड़पन के पश्चात् जीवन दिशा के रूप मे स्वीकार की जाने वाली एक जीवन प्रणाली होती है जो भौगोलिक सन्दर्भो में किसी समाज विशेष पर लागू हो सकती है अथवा विश्व के समूचे मानव समाज पर लागू हो सकती है। क्रान्ति, जीवन के एक पक्ष को लेकर कभी नही होती। क्रान्ति की परिभाषा तभी सार्थक होती है जब उस समाज मे व्यक्ति और वर्ग-विशेष के बीच कटाव, अलगाव और भटकाव नही झलकता। सम्पूर्ण समाज एक नये जीवन दर्शन पर ढाला जाता है। नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी के प्रतिक्रियावादी छूत (Infection) से बचा कर प्रतिबद्धता (Conditioning), मुक्तता (Deconditioning), पुनर्बद्धता (Reconditioning) की प्रक्रियाओं से विशाल पैमाने पर मानस निर्माण (Mind making) का कार्य किया जाता है। अन्त मे सबसे बडी शर्त जुड़ती है कि फिर उस क्रांति में से प्रतिक्रांति उत्पन्न न हो अर्थात् मात्र कुछ अवधि के लिए टाट पर रेशम का पैबन्द न हो!

इस कसौटी पर कसा जाय तो सही अर्थों में सच्ची क्रान्ति करने और कहने का सौभाग्य मनुष्य को नही मिला। यही कारण है कि क्रान्ति की नई धाराओं की खोज जारी है।

तो, क्या कारण है कि प्रतिक्रान्ति से रहित सम्पूर्ण क्रान्ति मनुष्य नही कर सका? वस्तुत: मनुष्य को प्रकृति से ही तीन आस्थाएं मिली हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। आधिदैविक आस्थाओ के जंजाल ने मनुष्य को धार्मिक वर्गों मे विभक्त कर दिया है। यह आस्था व्यक्ति को आध्यात्मिक सोपान तक नही पहुँचने देती। परिणामस्वरूप, व्यक्ति आस्थाओ का वर्ण संकरी उत्पादन तैयार हो जाता है और जीवन की किसी भी दार्शनिक प्रणाली के प्रति अपने आप को अन्तिम रूप से समर्पित नहीं कर पाता। आधिदैविक आस्था मनुष्य को मनुष्य समाज के प्रति कृतज्ञ नही बनने देती बल्कि इसके विपरीत मानव को मानव के प्रति कृतघ्न बनाकर अलौकिक, अवान्तर कृतज्ञता उत्पन्न कर देती है। यही कारण है कि क्या पूर्व, क्या पश्चिम —समूचा जगत् किसी एक जीवन दर्शन पर आधारित होकर, सही अर्थो में क्रांति नही कर पाता। धर्म को अफीम की संज्ञा देने वाले रूस व चीन में भी जब प्रतिक्रान्ति दिखाई दे रही है तो इसका कारण भी कहीं-न-कहीं आधिदैविक आस्था का छिपा हुआ चोर ही है। क्रान्ति की नई धारा का सही स्वरूप यही होगा कि मनुष्य अपनी आधिदैविक आस्थाओं से अपने आपको मुक्त करके; ग्रन्थ, पंथ, महन्त आदि आधिदैविक बिचौलियों को दूर करके साहस के साथ उस शुद्ध आध्यात्मिक जीवन-दर्शन को स्वीकार करे जो

समूचे मानव समाज को किसी अज्ञात परलोक सुधारने को प्रेरित न करे बल्कि इसी लोक में अधिक-से-अधिक सुख-शान्ति से जी लेने की प्रक्रिया को प्रदान करे। अर्थात्, मानव के दैनिक जीवन के धरातल को आध्यात्मिक धरातल से सीधा मिलान करा दिया जाय ! तब मानव सह-मानव के प्रति कृतज्ञ बनता हुआ सच्चे अर्थो मे सामाजिक प्राणी बन सकेगा। व्यक्ति की व्यष्टि को समष्टि में विलीन करने की प्रक्रिया को धर्म-ग्रन्थो व धर्माचार्यो की तर्कशैली से हटा कर वैज्ञानिक-सवैधानिक प्रणालियों द्वारा एक-एक औसत व्यक्ति को उस जीवन-दर्शन से अनुप्राणित करना होगा।

मनुष्य मूल रूप मे शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा निर्मित सामाजिक प्राणी है और रहेगा। अतः शिक्षण-प्रशिक्षण की प्रक्रिया को उस जीवन-दर्शन की ओर मोड़ना होगा जो मौजूदा जीवन-दर्शन के स्थान पर लागू किया जा सकेगा। उस जीवन-दर्शन के लिए यह आवश्यक होगा कि वह हमारे जीने से लेकर मरने तक की व्याख्या और व्यवहार प्रक्रिया को परिभाषित व क्रियान्वित कर सके जो किसी वर्ग विशेष को ही सन्तुष्ट कर सीमित न रहे बल्कि समूचे राष्ट्र या समूचे मानव-समाज के एक-एक घटक तक को प्रभावित करे। आदिवासी से लेकर नगरवासी तक उससे अछूता न रहे। समूचे राष्ट्र और मानव समाज की अर्थनीति, शिक्षा-नीति, सैक्स नीति, साहित्य-कला व मनोरंजन की नीति, औद्योगिक, प्रादेशिक, वैदेशिक राजनीति और जीवन रीति को संवैधानिक माध्यम से व्यक्ति, समाज और सरकार की त्रयी का सन्तुलन साधनो मे सफल करे।

इस प्रकार आध्यात्मिकता की अनुभूतियों को संवैधानिक भाषा-शैली से व्यक्ति, समाज और सरकार की सीमाओ मे मानव-जीवन को परिभाषित व मुखरित करते हुए जागतिक धरातल पर वैज्ञानिक सन्दर्भों में एकात्मता के बोध के जीवन-दर्शन पर आधारित शिक्षण-प्रशिक्षण की प्रक्रिया से ढाल कर जिस समाज का निर्माण किया जाएगा वही समाज सामाजिक क्रान्ति की नई धाराओ मे व्यक्ति को अवगाहन करा सकेगा। उस धारा मे अवगाहन करता हुआ व्यक्ति 'लेबल मुक्त' होगा। उसके गले मे न, क्रॉस होगा, न माथे पर तिलक। वह व्यक्ति न दिगम्बर होगा, न श्वेताम्बर ! न भगवाधारी होगा, न जटाधारी। उसका मानस ऐसा क्रान्तिकारी होगा जिसमे से प्रतिक्रान्ति उत्पन्न नहीं होगी। वह सच्चे अर्थों में सामाजिक क्रान्ति का अहसास करेगा।

# युवा विद्रोह (यूथ रिवोल्ट)

यूथ रिवोल्ट या युवा विद्रोह को युवा क्रान्ति से भी प्रकट किया जाता है। विद्रोह सन् 1857 का कहा जाता है और वही क्रान्ति भी कहलाती है। स्वतन्त्रता सग्राम के आतकवादी गरम दल के सेनानियों को क्रान्तिकारी कहते हैं। उधर राजा राममोहनराय और दयानन्द आदि के समय मे होने वाले धर्म-सुधार आन्दोलन को धार्मिक क्रान्ति भी कहा जाता है। आजादी के बाद हरित क्रान्ति, श्वेत क्रान्ति आदि भी क्रान्ति कहलाईं। लगता है कि क्रान्ति शब्द का भ्रान्तिकारी प्रयोग किया जा रहा है।

यदि विद्रोह, बगावत अथवा मात्र अपनी किन्ही आकाक्षाओ अथवा मांगो को पूरी करवाने के लिए किया गया आग्रह क्रान्ति कहा जाएगा तो सम्राट अकबर का पुत्र सलीम सबसे बड़ा क्रान्तिकारी माना जाना चाहिए! वस्तुतः भारत में समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं किन्तु क्रान्ति नही हुई क्योंकि क्रान्ति की प्रक्रिया के कुछ निश्चित चरणो से भारत सदियों से नही गुजरा। (इस प्रसंग मे आकाशवाणी द्वारा प्रसारित मेरी वार्ता 'सामाजिक क्रान्ति के नये सन्दर्भ' उल्लेखनीय हैं) वस्तुतः क्रान्ति का अर्थ केवल रक्त बहाना, बम फेंकना, फाँसी पर चढ़ जाना, बाप-दादों से तथा अधिकारियो से बगावत कर देना मात्र है तो यह गलत धारणा है।

जब परम्परागत धारणाओं-मान्यताओ और बुनियादी मूल्यों का पूर्णरूपेण परिवर्तन करके समूचे समाज की सरचना फिर से नई मान्यताओ पर ढाली जाती है जिससे कि अन्तर्विरोध रहित व्यवहार नीतियाँ संचालित होकर पुनः समरस जीवन यापन सम्भव हो, तब क्रान्ति कहलाती है। अब ऐसा ढाँचा बदलने के लिए रक्त बहे या नही? साधन हिंसक हो या अहिंसक, यह सब उन मूल्यों पर आधारित होगा जिन पर नये समाज की रचना को ढाला जाना तय किया गया है।

ऐसी क्रान्ति करने वाला ही क्रान्तिकारी कहलाता है। चूँकि क्रान्ति सदैव नये खून का युवक किया करता है अतः युवक ही क्रान्तिकारी कहलाता है। युवक शब्द किसी उम्र-विशेष, स्वास्थ्य-विशेष या परिस्थिति-विशेष का द्योतक नहीं है बल्कि युवक शब्द एक मनःस्थिति का परिचायक है। वह मनःस्थिति

जिस क्षण मे है बस उसी क्षण मे कोई मनुष्य युवक कहला सकने का अधिकारी है। युवक अर्थात् क्रान्तिकारी के हृदय मे अहर्निश एक सतत आग, निरन्तर ज्वाला, रचनात्मक असन्तुष्टि, निर्माणकारी तपिश रोम-रोम में व्याप्त रहती है। वह आग यदि कजला गई तो उसी क्षण समझो कि बुढापा आ गया। जीवन के झझावातों मे, द्वन्द्व-अन्तर्द्वन्द्व के आघातों में; प्रतिक्रियावादियों से उत्पन्न व्याघातों से भी जब व्यक्ति अपना जीवनमूल्य का मानदण्ड हिलने नही देता—तभी वह युवक क्रान्तिकारी कहलाने का अधिकारी है अथवा ऐसा क्रान्तिकारी ही युवक कहलाने का हकदार है, भले ही वह किसी भी आयु का क्यों न हो। मनुष्य युवक तभी होता है और रहता है, जब वह जीवन-दर्शन के मूल्यो की तराजू अपने हाथ मे ले लेता है और फिर उसकी डंडी को हिलने नही देता अर्थात् आघातों-व्याघातो से मूल्यो को अवमूल्यित नही होने देता। इस कसौटी के अनुसार गाधी मरते दम तक युवक था। किन्तु नेहरू आजादी के बाद 1947 में ही बूढ़े हो गये क्योकि गाधी के साथ स्वीकार किये गये उन बुनियादी जीवन मूल्यों की तराजू की डण्डी को स्थिर नही रख सके।

तब ठीक इसी दिशा में क्रान्ति के परिवेश में युवक की परिभाषा करते समय कुंआरापन (अविवाहित रहना) युवक शब्द का द्योतक नही है। बीवी-बच्चे-गृहस्थ-परिवार—ये सब क्रान्तिकारी की—युवक संज्ञा की कसौटी हैं क्योंकि इसी कसौटी पर आकर भले-भले युवक क्रान्तिकारी अपना यौवन खोकर प्रौढ बन गये। इस कसौटी पर जो खरे उतरे वे ही मरते दम तक युवक बने रहे। महर्षि दयानन्द क्या जाने कि नवोढ़ा रानी का मोह क्रान्ति मे क्या बाधा पहुँचाता है—वह तो चूडावत के दिल से पूछो कि स्मृति चिह्न लिये बगैर घोड़े को ऐंड़ नही लग रही थी पाडिचेरी की गुफा मे निवास करने वाले अरविन्द क्या जाने कि भूखी औलाद के बिलबिलाने पर क्रान्ति के कदम किस कदर डगमगाया करते है? वह तो राणा प्रताप से पूछो, जब नन्हा-सा अमर्‌या चीख पडा था। विवेकानन्द क्या जानें कि गुमराह औलाद क्रान्तिकारी बाप की क्रान्ति को किस कदर ललकारती है? वह तो गाधी से पूछो कि जिसके जीवन मूल्यों में धर्म-परिवर्तन को स्थान नही था किन्तु उसी की औलाद विधर्मी बन-बनकर गाधी की धार्मिक क्रान्ति के मूल्यों को ललकारने लगी। ये ही तो वे मौके होते हैं जब युवक की—क्रान्ति की—कसौटी होनी है। कसौटी पर खरा सिद्ध करने के लिए हर क्रान्तिकारी को—युवक कहे जाने वाले व्यक्ति को—बीवी-बच्चो वाला होना चाहिए। परिवार और समाज से पलायन नहीं करना चाहिए। अतः विवाहित होकर देखिए कि युवकोचित मनःस्थिति की कसौटी पर खरे युवक कितने हैं? बीवी-बच्चों के कैरियर के मोह ने जिन-जिन को क्रान्ति के मार्ग से विचलित किया यानि जीवन-मूल्यों को अवमूल्यित करने के लिए [illegible]—विवश किया,

वे सब प्रौढ़ हैं—Elders हैं। Elders को क्रान्ति शब्द का प्रयोग करने का भी अधिकार नही है क्योंकि क्रान्ति युवक ही कर सकता है—Elder नही। अतः यदि क्रान्ति की बात करनी है तो सब Elders मैदान-ए-जंग मे युवक बनकर आ जाएँ अर्थात् युवक की मनःस्थिति मे आ जाएँ क्योंकि क्रान्ति के शब्दकोष मे कोई बूढ़ा नहीं होता।

बिहारी ने लिखा था—"किते न औगुन जग करे वै नै चढ़ती बार।" बिहारी की इस चढती उम्र की अवगुण मुखी परिभाषा को मानने वाले लोगो का कहना है कि जवानों में जोश होता है किन्तु होश नही होता, अतः उन्हे बड़े-बूढों की सलाह मे चलना चाहिए। वास्तव मे देखा जाए तो हारा हुआ, शिकस्त खाया हुआ, परास्त युवक ही प्रौढ़ बनकर युवकों के जोश को होश दिलाने आता है। जबकि वह इस बात को भूल जाता है कि जिस जोश में होश नहीं होता वह जोश तो किशोर में होता है, युवक मे नही। सही अर्थो मे युवक तो उसी को कहेंगे जिसके जोश की बुनियाद मे जीवन-दर्शन, जीवन-मूल्यो का, व्यावहारिक सन्तुलन का होश होगा।

एक युवक साथी आए। बड़े जोशो-खरोश के साथ आए। बोले, हम क्रान्ति करना चाहते हैं। गाँवों के यूथ को जागृत करना चाहते हैं। उन्हें शिक्षित करेंगे। मैंने पूछा—"क्या शिक्षा दोगे? केवल कपडो की धुलाई करना ही सिखलाओगे या दिमाग की धुलाई (ब्रेन वॉशिंग) भी सिखलाओगे? क्रान्ति के लिए मानस निर्माण तो करना होगा। कैसा मानस बनाओगे? शिक्षा की जन्मघुट्टी में क्या दोगे?" साथी बोले—"हम उन्हे कोई ism(इज्म) नही देंगे। पढ़-लिखकर वे जैसा उचित समझे, करें।" मेरा फिर प्रश्न था—"उचित-अनुचित की कोई तराजू तो उनके हाथ मे दोगे या नही? यदि नहीं, तो फिर आप क्रान्ति शब्द का प्रयोग मत कीजिए। यदि नवीन आस्था का, नये मूल्यो का प्रतिष्ठापन आप नही कर सकते तो प्राचीन मूल्यों को उखाड़ने से कोई क्रान्ति नही होगी बल्कि अराजकता जरूर फैलेगी।" साथी के पास सन्तोषजनक उत्तर नही था। वस्तुतः जीवन-दर्शन और समाज-रचना और मानव मनोविज्ञान से तथा सगठनशील कर्तृत्व शक्ति से शून्य व्यक्ति न युवक हैं, न क्रान्तिकारी न समन्वयकारी। अतः युवक के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसे समूचे मानव समाज के अतीत का अध्ययन, वर्तमान का परिवर्तन और भविष्य का चयन करने की कुशल समझदारी हो तभी वह युवक और क्रान्ति समानार्थक बन सकेंगे।

चूंकि मनुष्य का जीवन-दर्शन, जीवन-मूल्य कभी absolute (निरपेक्ष) नही हुआ करता; सदैव युग-सापेक्ष हुआ करता है अतः उसमे युगानुकूल परिवर्तन होते रहते हैं। युवक सदैव उन परिवर्तनो की मशाल थामते हैं और प्रौढ सदैव अपने अतीत का जुआ युवकों के कंधे पर लादना चाहते हैं। फलतः टकराव उत्पन्न

होता है। प्रौढ़ कभी भी युग की आवाज नही सुनते, युग की भाषा नहीं पढ़ते। इसीलिए प्रौढ़-शिक्षा का विकल्प समाजशास्त्र ने दिया है जिसका अर्थ निरक्षर प्रौढ़ों को साक्षर करना मात्र नही है बल्कि प्रौढ़ मनःस्थिति को युवक मनःस्थिति मे बदलना ही प्रौढ़ शिक्षण का लक्ष्य है जिससे कि समाज मे सदैव समरसता बनी रहे! विरोधाभास और टकराव नही आवे। हमारे गौरवशाली अतीत ने वानप्रस्थाश्रम का विकल्प देकर प्रौढ़ो का गौरवशाली पलायन स्वीकार किया था किन्तु युगसम्मत जीवन-दर्शन पलायन नही चाहता, परिवर्तन चाहता है। प्रौढ़ो को ही युवक बनाना चाहता है। उधर समूचे विश्व के परिवेश मे 'प्रौढ़ मानव' अपनी आदत से मजबूर है। प्रौढ़ मानव या तो पलायन करना चाहता है या फिर अपने अस्तित्व-व्यक्तित्व और प्रभुत्व को युवको पर थोपना चाहता है। ठीक इसके विपरीत (केवल उम्र की पहचान वाले नही) सही अर्थों मे युवक कहलाने का अधिकारी—क्रान्तिकारी—केवल निर्लिप्त (unattached) परामर्श चाहता है; सख्यभाव से सहयोग चाहता है किन्तु यही सब कुछ नही मिलने के कारण युवक विद्रोह करता है। इसी कारण समस्त राष्ट्रो के सामाजिक परदो पर युवको के रोष-आक्रोप तथा बगावत और क्रान्ति आदि के चित्र उभरते दिखाई दे रहे हैं। ऐसी स्थिति मे बौखलाया हुआ प्रौढ समाज बहकता हुआ कहता है कि युवकों को धार्मिक शिक्षा दो! सही दिशा दो!!

आज के युवक ने राम और कृष्ण से लेकर; ईसा और बुद्ध से लेकर-मार्क्स और गाधी तक फ्रास, जर्मनी, रूस, चीन, इंग्लैंड, अमरीका और जापान तक सभी के इतिहास मे जीवन मूल्यो के बुनियादी परिवर्तन देखे हैं। इसीलिए आज का युवक किसी राष्ट्र-विशेष, धर्म या जाति-विशेष, व्यक्ति या ग्रन्थ-विशेष के आधार पर जीवन मूल्यो मे परिवर्तन नही करना चाहता बल्कि वह आज तक के इतिहास की पुनरावृत्ति नही हो ऐसा कुछ चाहता है। इसीलिए ऐसा 'यूथ रिवोल्ट' कर रहा है जो सही अर्थों मे यूथ है।

# कथनी और करनी की नई भूमिका

मनुष्य एक तर्कशील प्राणी है। मनुष्य में आलोचना की प्रवृत्ति जन्मजात है। यह तार्किक तथा आलोचनात्मक प्रवृत्ति आयु के साथ-साथ तथा मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ बढती है। किसी भी कार्य तथा विचार के प्रति आलोचना, तर्क-वितर्क न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक छोटी तथा बड़ी उम्र के लोगों में पाई जाती है, किन्तु कुछ लोगों का दिमाग इस क्षेत्र में अधिक काम किया करता है। जब यह प्रवृत्ति तर्क-वितर्क के रूप में रहती है, तब रचनात्मक होती है और समाज के लिए लाभकारी बनती है, किन्तु जब यह कुतर्क का रूप धारण करती है, तब समाज मे भ्रम, विष, विद्वेष तथा हठधर्मीपन को बढ़ावा देती है।

## कुतर्की औलाद

बच्चा बडा होकर, बोलना सीखकर, धीरे-धीरे अपने आस-पास के वातावरण की, अपने दोस्तों की, अपने अन्य सम्बन्धियो की आलोचना करता-करता अपने माँ-बाप के कार्यों की, उनके दृष्टिकोणो और व्यवहारो की आलोचना करने लगता है। वही बच्चा अपने विद्यालय मे जाकर अपने अध्यापकों की आलोचना करता है। आलोचना करते समय बच्चा अपने माँ-बाप और अपने अध्यापक के सद्‌गुणों और सद्व्यवहारो की बात बहुत ही कम ध्यान मे रखता है किन्तु उनके दुर्गुणों पर, उनकी कमजोरियो पर और उनकी छोटी मोटी-नगण्य आदतों पर अधिक ध्यान देता उन दुर्गुणों पर बच्चा इसलिए अधिक ध्यान देता है, इसलिए नही कि वह अपना सुधार करना चाहता हो, बल्कि वह इसलिए अधिक ध्यान देता है कि जिससे एक कुतर्क लगा सके। वह कुतर्क यह है कि "जब आप ऐसा करते हैं, तो हम ऐसा क्यो न करे? हम पर आपकी शिक्षा का असर कैसे पड़ सकता है?" —इस प्रकार का कुतर्क लगाने वाले बालक तथा युवक अपने बूढ़े दादा से कहते हैं—"दादा जी जब आप चिलम पीते हैं तो हम बीड़ी क्यों न पीएँ, काका साहब माँ-बहिन की गाली देते हैं तो हम कैसे न दे और हमारे गुरु जी जब सिगरेट पीते हैं तो हम कैसे न पीएँ? आप लोगों की शिक्षा का हम पर असर कैसे हो सकता है?" बालिकाएँ अपनी माँ से कहती हैं—"माँ! जब तुम्हारे से ही गहने-कपड़े का लालच नही छोड़ा जाता तो हम कैसे छोड़े? हमारी बहिन जी ही जब सिनेमा

देखती हैं, लिपस्टिक लगाती है तो हम क्यों न लगाएँ ? आपके मना करने और शिक्षा देने का हम पर कोई असर नही पड़ सकता। ”

## बुजुर्गों की पीड़ा

बुजुर्गों के और भी अनेक कार्यों व विचारों तथा उनकी जमी हुई आदतों को लेकर, आनेवाली सन्तानें जब इस प्रकार का कुतर्क लगा कर कटु आलोचनाएँ करती हैं, तब अपनी छाती का दूध पिलाने वाली माँ अपना मन मसोस कर रह जाती है। अपने दिल का टुकड़ा समझ कर पालन-पोषण करने वाला बाप अपना दिल तोड़ कर रह जाता है। और···और ज्ञान का दीप सजाने वाला अध्यापक अपनी असफलता पर अफ्सोस करके रह जाता है ! उनके तन-बदन में आग लग जाती है। सोचते हैं, कि क्या ऐसे ही पत्थरो पर महल बनेगा ?

अनुशासन, अध्ययन, मनोरजन, विवाह जीविकोपार्जन, परिपाटियो का परिपालन, लोक व्यवहार इत्यादि अनेक प्रसंग, अनेक अवसर तथा अनेक स्थल ऐसे आते हैं, कि जहाँ माँ-बाप, बुजुर्ग और पनपती हुई सन्तानो के बीच चिनगारी भड़क उठती है। वयोवृद्ध माँ-बाप और अध्यापक इन सजीव खाको मे अपनी ही दृष्टि से भरे हुए रंगो को बदरग होते हुए नहीं देखना चाहते। उगती हुई सन्तानो की हिमाकत उन्हे सहन नही होती और घरों में तथा विद्यालयो में एक उपेक्षापूर्ण वातावरण बन जाता है। बुजुर्ग अपनी आदतों की आलोचना इसीलिए सहन नही कर पाते कि वे अपने बच्चो को अपनी कथनी पर चलाना चाहते हैं, करनी पर नही।

## कथनी ही निर्देशक तत्व

प्रत्येक व्यक्ति मे गुण-अवगुण, प्रकृति-प्रवृत्ति, भाव-अनुभाव स्वाभाविक रूप से समाये हुए अप्रत्यक्ष रहते हैं। इनका विकसित स्वरूप जब व्यवहार मे आता है तब ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। इनका विकास कुछ तो प्रकृति प्रदत्त होता है, कुछ स्वनिर्मित होता है और कुछ आस-पास के वातावरण द्वारा प्रभावित होता है। परिणाम स्वरूप इस संसार मे कोई भी मनुष्य सर्वगुण सम्पन्न कभी नही बन सकता। ऐसी अनिवार्य परिस्थिति मे यदि कथनी को महत्त्व न देकर करनी पर अधिक केन्द्रित होते तो ससार मे सुधार, शिक्षा, पुनरुत्थान, पुनरुज्जीवन नाम के तत्व ही शेष नहीं रहते, किन्तु इसके विपरीत, मानव की उन्नति सदैव इस सिद्धान्त पर हुई है कि—“हमारे अनुभवों से लाभ उठाओ। हम खो चुके पर तुम प्राप्त करना, हमने अनवति की पर तुम हमारे मार्ग से बच कर उन्नति की राहों पर चलना, हम भले ही अपना तेल का दीपक भी बुझा चुके होंगे पर तुम तो

तुम्हारा घी का चिराग सँजोना अर्थात हम जो बहुत कुछ कर चुके है उसके आधार पर तुम्हे जो कहते हैं वैसा करना ।"

## पश्चात्ताप युक्त कथनी भी करनी से कम नहीं !

बहुत हद तक यह ठीक है कि कहने का प्रभाव उसी व्यक्ति का है जो स्वय तदनुरूप कार्य करता है । कथनी और करनी का ऐक्य ही प्रभावोत्पादक होता है । कथनी करनी का भेद अपने सामने वाले के हृदय को नही भेद सकता । जहाँ तक इस दृष्टि से आत्मबल द्वारा सामने वाले को प्रभावित करके राह पर लाने का प्रश्न है वहाँ तक दोनो पक्ष समान रूप से सामर्थ्यशाली हैं । यदि जिन्दगी भर चोरी नही करने वाले का आत्मिकबल यह सामर्थ्य रखता है कि वह चोरी न करने की शिक्षा दे तो दूसरी तरफ जिन्दगी भर चोरी करने वाला एक चोर भी हमारे मर्म को छूने की क्षमता रखता है। चोर की दयनीय दशा है, उसकी मानसिक अशान्ति, उसकी आन्तरिक रिक्तता, उसका कसकता हुआ आत्म-सम्मान तथा उसका दण्डित स्वरूप ये सब सामने वाले को प्रभावित कर सकते हैं, शिक्षा दे सकते हैं । एक दोषी और भुक्तभोगी के पश्चात्ताप मे भी उतना ही आत्मबल आ जाता है जितना कि एक निर्दोष के गौरवान्वित कथन मे । प्रत्येक दोषी यदि दूसरे व्यक्ति को दोष से बचने के लिए कहता है, शिक्षा व सलाह देता है तो यह स्पष्ट है कि वह अपनी करनी पर पश्चात्ताप कर रहा है और पश्चात्ताप सदैव प्रभावोत्पादक होता है । कथनी और करनी, दोषी और निर्दोषी—ये दोनों किनारे हैं, प्रवृत्ति के प्रवाह को मध्यगत करने के लिये, सही दिशा देने के लिये ।

## जिन्दगी के तीन मोड़

इन्सान की जिन्दगी के प्रवाह मे बचपन, जवानी और बुढापा—इन तीन मोड़ो के साथ-साथ प्रवृत्ति के प्रवाह मे भी तीन मोड़ आते हैं । पहले मोड़ में इन्सान की प्रवृत्तियाँ, आदतें और धारणाएँ, पक्की नही होती, सुधारी जा सकती हैं, बिगाडी जा सकती है, और नई निर्माण भी की जा सकती हैं, किन्तु यह वह मोड़ है जहाँ कि एक निर्माता की, कर्त्ता की अथवा सहारा देने वाले की आवश्यकता होती है और यह आवश्यक नही है कि हर इन्सान को इस मोड़ पर एक अच्छा सहारा देने वाला मिल ही जाए या एक कुशल निर्माता मिल ही जाए । परिणामस्वरूप कुछ सुधरी, कुछ बिगडी, कुछ पक्की, कुछ कच्ची, कुछ भली, कुछ बुरी, आदतो व प्रवृत्तियों को लिये हुए ही इन्सान अपने जीवन के दूसरे मोड़ पर अपने आप को खड़ा हुआ देखता है । इस दूसरे मोड़ के साथ कुछ प्रवृत्तियाँ तो बिलकुल मजबूत हो जाती हैं, जीवन का अंग बन जाती हैं, उन्हे छोड़ना मुश्किल

हो जाता है और इन्सान उन्हें छोड़ने का प्रयत्न करने के बजाय उनसे तालमेल बैठा लेता है (यह सोच कर कि भाई क्या करें यह तो चलेगा) किन्तु फिर भी इस स्थिति में कुछ हद तक इन्सान अपनी समझदारी से, अपने विकसित आत्मबल से कुछ प्रवृत्तियों को बदल सकता है। साथ-साथ आस-पास के वातावरण से अभी तक वह नई अच्छी या बुरी प्रवृत्तियों को सीखने की क्षमता रखता है। कुछ निश्चित अवधि तक वह अपनी प्रवृत्ति को छिपाकर, दबा कर भी रख सकता है क्योंकि इस दूसरे मोड़ तक इन्सान में सहनशक्ति का बाहुल्य रहता है। उदाहरणार्थ में कुछ लोग सिगरेट पीना छिपा लेते हैं, मेहमान तथा बड़ों के सम्मुख अपनी प्रवृत्ति को रोक लेते हैं—यह सब इस बात के परिचायक हैं कि वे अपनी दूसरी स्थिति में चल रहे हैं जिसमें इन्सान की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है किन्तु फिर भी परिवर्तन की क्षमता है तथा नवीन प्रभाव से यह प्रभावित भी होना चाहता है। इसके पश्चात जिन्दगी का तीसरा मोड़ प्रवृत्ति के प्रवाह का भी तीसरा मोड़ लेकर आता है। बुढ़ापे के मोड़ के साथ इन्सान अपनी पूर्व परिस्थितियों, धारणाओं, प्रवृत्तियों और आदतों से इतना घुल-मिल जाता है कि फिर किसी के सामने छुपाने की आवश्यकता भी वह अनुभव नहीं करता। अपनी विवशता को प्रकट करने में संकोच का अनुभव नहीं करता। उसमें नवीनता को ग्रहण करने की क्षमता शिथिल हो जाती है। और सहनशीलता का अभाव हो जाता है। यही कारण है कि बूढ़े-बुजुर्ग यही कहते हुए मिलते हैं कि भाई ! अब हमें क्या करना है, तुम करो।

## संन्यासियों को छोड़कर सभी माँ-बाप बनते हैं

जिन्दगी का पहला मोड़ इन्सान को सर्वगुण सम्पन्न बना सकता है किन्तु उस समय सम्पन्न कर्ता या सहायक मिलना अवश्यम्भावी नहीं है। तब उस परिस्थिति में अपनी प्रवृत्तियों की क्षमता और विवशता का एक अनोखा मिश्रण लिये हुए इन्सान अपने दूसरे और तीसरे मोड़ पर पहुँच जाता है। उस समय यदि कोई इन्सान से सर्वगुण सम्पन्नता की आशा करे तो वह दुराशा मात्र है इसके साथ-ही-साथ हम यह भी न भूलें कि इस संसार में जो मां-बाप बनते हैं, जो नेता, लेखक, सुधारक और अध्यापक बनते हैं वे किसी सर्वगुण सम्पन्न स्वर्गलोक से नहीं आते अपितु (कुछ सुधरी, कुछ बिगड़ी, कुछ कच्ची, कुछ पक्की, कुछ भली, कुछ बुरी आदतों व प्रवृत्तियों को लेकर) अपनी जिन्दगी के दूसरे मोड़ पर पहुँचे हुए इन्सानों में से ही कुछ इन्सान नेता बनते हैं, कुछ लेखक बनते हैं, कुछ सुधारक और अध्यापक बनते हैं, किन्तु सन्यासियों को छोड़ कर, सभी माँ-बाप बनते हैं। इसीलिए प्रत्येक अध्यापक, प्रत्येक संरक्षक, प्रत्येक बुजुर्ग, प्रत्येक माँ और प्रत्येक बाप चाहे स्वयं कितना ही दोषी क्यों न हो किन्तु अपने छात्रों से, अपने बच्चों

से—अपनी आने वाली सन्तानों से—यही कहेगा कि "तुम निर्दोष बनो। मैं जो कुछ नही कर सका वह तुमसे करने के लिए कह रहा हूँ। मैंने अपने जीवन मे नियमों का बहुत उल्लंघन किया है परन्तु तुम अनुशासन में रहना सीखो, मैंने गुलामी की है पर मेरे जिगर के टुकड़ो तुम आजाद रहना सीखो, आजादी का संदेश सुनाना।" और···यदि आने वाली सन्तानें समझदार हैं तो कथनी को करनी का रूप अवश्य प्रदान करेंगी।

# कुरवान होने की आग

बलिदान ! तनिक-सा शब्द !! किन्तु यह शब्द अपने आप में जीवन और मरण—जिन्दगी के दोनों किनारों के बीच मनुष्य की ऊँची भावनाओं का एक ऐसा पुण्य प्रवाह सिद्ध होता है जिसमे अवगाहन करके मानव की पीढ़ी दर पीढ़ी आने वाली सन्तानें ऐसा स्वास्थ्य, बल और स्फूर्ति प्राप्त करती हैं जो मानव मात्र की थाती है जो हर युग मे, हर क्षण मे जाति, देश, रंग और धर्म की सीमाओ को लाँघ कर शोषण, अनाचार, अत्याचार की बर्बरी विकृतियों के सम्मुख स्वतन्त्रता, समानता और सदाचार की संस्कृतियों की रक्षा करती है। यही कारण है कि न केवल हमारा राष्ट्र बल्कि हर राष्ट्र अपने-अपने बलिदानो का इतिहास गौरव के साथ विरासत के रूप में अपनी नई पीढ़ियों को समर्पित करता है।

बलिदान की ऐसी व्यापकता को अनुभव करते हुए राष्ट्रीय बलिदानों की चर्चा करते समय हमें बलिदान की सर्वांगीण परम्पराओ को भूलना नही चाहिए। कुछ गहरे अतीत से उभार कर हमें एक बार के लिए जरूर समझ लेना चाहिए कि समाज या समष्टि की खातिर व्यष्टि के गौरवशाली बलिदान का उत्कृष्ट उदाहरण आता है—महर्षि दधीचि ! जिनकी हड्डियों से वज्र बनाकर मनुष्य के संस्कृति-पक्ष ने मनुष्य के विकृति-पक्ष पर विजय प्राप्त की। सेवा और दया के क्षेत्र में राजा शिबि का बलिदान एक कथा मात्र नही है बल्कि बलिदानों की भूमिका को भूलकर 'छूट और लूट के वरदानो की वीथिका' में विचरण करने वालो के लिए एक जबरदस्त चुनौती है। धार्मिक क्षेत्र मे, आस्था विश्वास के क्षेत्र मे प्रह्लाद का बलिदान केवल पौराणिक कथा नही है बल्कि मनुष्य की उत्पीड़क, शोषक, एकाधिकारी वृत्ति की विकृति के विरुद्ध मानव की स्वतन्त्र-चेता संस्कृति के संघर्ष का खुला उद्घोष है। बलिदान का एक दूसरा आयाम शंकर का गरलपान, नीलकण्ठ महादेव की मनगढन्त कथा मात्र नही है बल्कि—सामाजिक जीवन जीने की दिशा मे असामाजिक तत्वों द्वारा थोपी गई व्यवहार सम्बन्धी विकृतियों के जहरीले घूँट स्वयं की सीमा मे अटका कर समाज की रक्षा करके असामाजिक षड्यन्त्रो को असफल कर देना किन्तु उस विकृति को गले से नीचे नही उतारना क्योंकि विकृति पर विजय पाने का तात्पर्य यह नही कि हम स्वयं भी समूचे विकृत हो जाएँ। अतः असामाजिकता के विष से स्वयं को बचाते

हुए समाज को बचा लेना—गरल को गले तक अटका लेना—बलिदान का एक ऐसा आयाम है जो विश्व के इतिहास मे ढूँढे नही मिलता।

कुछ और आगे बढ़कर सोचें तो अमेरिका मे कालो का बलिदान गोरों के विरुद्ध; जापान और वियतनाम का बलिदान स्वय अमेरिका के विरुद्ध, रूस का बलिदान फासिस्टों के विरुद्ध; धर्म-निरपेक्ष मानव का बलिदान धर्म-सापेक्ष मानव के विरुद्ध अर्थात् बलिदानो की एक शृंखला हमें विश्व के इतिहास में मिलेगी जो अपने आप यह प्रमाणित करती है कि बलिदान मनुष्य मात्र की एक ऐसी शक्ति-सम्पत्ति है जो खुलकर मिली है—हर मनुष्य को मिली है—कुदरत की विरासत में और···और विडम्बना है कि मानव को अपने सहमानव की विकृतियों के विरुद्ध ही इस बलिदानी शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है।

हमारे भारत के सन्दर्भो मे राष्ट्रीय बलिदानो की परम्परा भी बहुत जबरदस्त रही है। साधारण तौर पर राणाप्रताप और शिवाजी से लेकर गाधी के बलिदान तक स्वतन्त्रता संग्राम का समूचा इतिहास बलिदानों से भरा पड़ा है। शायद इतना बड़ा इतिहास—बलिदानो का—अन्य किसी राष्ट्र का नही होगा क्योंकि हमारा स्वतन्त्रता संग्राम मुगल साम्राज्य की स्थापना से लेकर अंग्रेजी साम्राज्य की समाप्ति तक चलता रहा। यही कारण है कि जहाँ पद्मिनी के जौहर जैसा बलिदान का अनूठा रूप देखने को मिलता है तो चूडावत सरदार का अपनी पत्नी सहित जुझारु बलिदान भी सराहने को मिलता है। इसके बाद मुगलकाल में औरंगजेब के समय तथा उसके बाद सन् 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम और फिर अन्त में कांग्रेस की स्थापना के बाद 15 अगस्त, 1947 तक बलिदानो का एक ऐसा अटूट क्रम बन गया है जिसका इतिहास रोंगटे खड़े कर देने वाला रोमांचक इतिहास है जिसको सही-सही ढंग से प्रस्तुत करना नई पीढ़ी और भविष्य के भारत के लिए आवश्यक ही नही बल्कि अनिवार्य भी है। उस प्रस्तुतिकरण की दिशा भी सकारात्मक हो—यह तो बहुत ही अनिवार्य है।

अपने बच्चों की चार-चार पीढ़ियो तक के लिए बन्दोबस्त करने वाले जमाखोर, सूदखोर, अनाप-शनाप मुनाफाखोर असामाजिक तत्व क्या कल्पना कर सकेंगे उस बाप के बलिदान की कि जब सिख गुरु गोविन्दसिंह के दो बच्चों को मुगल सम्राट औरंगजेब ने जिन्दा दीवार मे चुनवा दिया। ठीक उसके बाद सन् 1792 में हैदराबाद के मुसलमान शासक टीपू सुल्तान के आठ साल और दस साल के दो बच्चों को अंग्रेज लॉर्ड कार्नवालिस ने गिरवी रखवा लिये। तीन करोड़ तीस हजार रुपये का दण्ड जब तक नही चुके तब तक टीपू सुल्तान अपने बेटे प्राप्त नही कर सका। राणा प्रताप ने जैसी प्रतिज्ञाएं की थी उसी की तुलना में मैसूर का इतिहास बोलता है कि उस दिन से टीपू ने पलंग और बिस्तर पर सोना छोड़ दिया। मृत्यु तक वह जमीन पर टाट बिछा कर सोया।

ठीक इसके बाद दिल्ली का खूनी दरवाजा आज भी याद दिलाता है फिर से दो बच्चो के उस दृश्य की कि जब अंग्रेज हडसन मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र के दो जवान बेटो और एक पोते के सिर काट कर जफर के सामने लाए तो बाप का बलिदान बोल उठा—"अलहम्दोलिल्लाह ! तैमूर की औलाद ऐसी ही सुर्खरू होकर बाप के सामने आया करती थी।"

इससे पहले 31 जुलाई, 1857 को रावी नदी में 500 भूखे-थके-हारे निहत्थे सैनिकों पर अंग्रेज फ्रेडरिक कूपर ने गोलियां चलाईं। इनमे से 150 सैनिक रावी नदी मे डूब गये। उनके खून से रावी का पानी लाल हो गया। कुछ सैनिकों ने आत्महत्या कर ली। शेष 282 सैनिकों को अमृतसर से 16 मील दूर अजनाले थाने पर पहुँचाया गया। दूसरे दिन 1 अगस्त को बकरीद थी। उस दिन 237 सिपाहियो को गोली मार दी गई और 45 की लाशें पड़ी मिली क्योंकि उन्हें जहाँ कैद किया गया था वहाँ वे घुट-घुट कर मर गये। उन 282 लाशो को अजनाले थाने से थोड़ी दूर पर एक गहरे कुएँ मे फेंक दिया गया। उस पर मिट्टी डाल दी गई। यह कुआं आज भी मौजूद है। "काल्यां दा खूह" के नाम से जाना जाता है।

इस प्रकार की एक नही बल्कि अनेक घटनाएँ सन् 1857 के दौरान घटित हुई जो रोंगटे खड़े कर देती हैं। उसके बाद कांग्रेस आन्दोलन के दौरान भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु और चन्द्रशेखर आजाद के बलिदान हमारे इतिहास के माने हुए बलिदान हैं। जलियाँवाला बाग को चारों ओर से घेर लिया गया था। उसमें सभा करते हुए स्त्री-बच्चों-बूढ़ों और जवानो मे से एक भी प्राणी ज़िन्दा बचकर नही निकल सका।

अतः बलिदानो के किसी भी प्रसंग को उभार कर किसी एक व्यक्ति-विशेष, किसी एक जाति-धर्म-विशेष या किसी एक राष्ट्र-विशेष के विरुद्ध किसी अन्य व्यक्ति, जाति, धर्म या राष्ट्र को घृणा-प्रतिशोध की भावना से भर देना,एक घोर मानवीय अपराध होगा जिसका प्रायश्चित ढूंढे नही मिलेगा। वस्तुतः स्थिति तो यह है कि मनुष्य मात्र मे कुदरत से दोनों ही तत्व मिलते है—सामाजिक तथा असामाजिक ! जब मनुष्य का असामाजिक तत्व उभर उठता है तब चाहे ईसा हो या मोहम्मद; नानक हो, महावीर हो या बुद्ध ! कोई भी उस उत्पीड़न, शोषण, अनाचार-भ्रष्टाचार पर उतारू हुए तत्व को केवल उपदेशों से थाम नही सका। अतः प्रश्न हिंसा-अहिंसा का नही है; प्रश्न वीरता और कायरता के मापदण्डों का नहीं है; प्रश्न वेद और कुरान का नही है। प्रश्न भारतीय अभारतीय संस्कृति का नहीं है। जद्दोजहद साम्यवाद और पूंजीवाद की नही है भाई। कशमकश केवल एक है—युग-सापेक्ष नैतिक मूल्यों की रक्षार्थ अनैतिक तत्वों को अपने जीते जी खुल कर ललकारा जावे या नही ? यदि ललकारा जावे तो कैसे ? इस 'कैसे' का उत्तर

देते-देते मानव का चिन्तन आज अब दधीचि के हड्डीदान से लेकर विनोबा के ग्राम-दान तक पहुँच चुका है। अब कौन जानता है कि कल फिर कौन-सा नवीन चिंतन या क्रिया पृष्ठ खुल जाय !

इसलिए मत बाँधो नैतिकता के सेनानियों को—संस्था-व्यवस्था, नियम-उप-*नियम, ग्रन्थ-ध्वज, भाषा-वेशभूषा और संस्कृति की सीमाओं में ! हम* सोचते हैं कि इन सीमाओं में बाँधकर हम उनका प्रसार कर रहे हैं ! कैसी आत्म-प्रवञ्चना है, बन्धु ! आग्रह-पूर्वाग्रह छोड़कर खुले चित्त से इन सब सेनानियों के पास चलो और इनसे वरदान माँगो ! मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इन सबसे हमें एक ही वरदान मिलेगा—"कुरबान होने की आग !"

# छब्बीस जनवरी—एक अनुभूति

आज छब्बीस जनवरी ! गणतन्त्र दिवस ! जन-गण का दिवस !! मेरी अनुभूति, मेरी सीमाओ मे—व्यक्ति के धरातल पर—जन-गण को, जन-जीवन को यानि समष्टि को समर्पित ! मेरी अनुभूति, यदि जन-जीवन को अभिभूत न कर सके तो वह अनुभूति मेरी कैसी ? मैंने वह अनुभूति पाई कहा से ? मेरे जन-गण से बाहर, कही दूर-सुदूर सितारों मे या फिर जन-गण के बीच इस प्रत्यक्ष जन्म से पार किसी पूर्वजन्म मे या एडवान्स प्रणाली के इस युग में किसी अगले जन्म से एडवान्स मिल गई मुझे मेरी अनुभूति ? जो मैं गणतन्त्र दिवस को पेश करू ? भेट करू ?

यों तो, शिक्षा क्षेत्र मे कार्य करते हुए उम्र गुजर रही है ! सन् 1958 से तो निरन्तर नई पीढी को गणतन्त्र दिवस पर सन्देश स्वरूप मेरी अनुभूति, मैं अभिव्यक्त करता ही आया हू, किन्तु अभी इन क्षणो मे मेरी अनुभूति का एक विशेष दौर मेरी आखों के आगे तैर रहा है, उसकी लहरो मे जैसे कोई समुद्री ज्वार आ रहा है और मैं अपने आप को पा रहा हूं, अपने बीकानेर के स्टेडियम मे। बहुत ज्यादा नही, बस पिछले ही वर्ष 1982 के गणतन्त्र-दिवस ही की बात है। मैं कितनी उत्सुकता से, कितनी भावुकता से, कितनी सुख की अनुभूति से स्टेडियम में देख रहा था कि मेरे बीकानेर के ही प्रो०बी०डी०कल्ला, राजस्थान के उपशिक्षा मंत्री बनकर भारत के राष्ट्रध्वज को लहरा रहे थे, परेड की सलामी ले रहे थे, पुरस्कार प्रदान कर रहे थे। बीकानेरी केशरिया पाग पहने शिक्षा मंत्री ने बीकानेर के गणतन्त्र दिवस की शोभा मे चार चाँद लगा दिये। उस दिन मेरा बेटा भी शतरंज की चैम्पियनशिप के लिए पुरस्कृत होकर मुझे गौरव की अनुभूति प्रदान कर रहा था। मैं उसी सब अनुभूति से अभिभूत, गौरवान्वित हुआ चला आ रहा था—वापस, स्टेडियम से ! भीड अधिक थी, मेरी साइकिल की गति कम थी।

इतने मे पीछे मे एक हाथ मेरे कन्धे पर आया। मैं कुछ सहमा किन्तु दूसरे ही क्षण प्रसन्न हुआ। बहुत ही पुराने एक मित्र, मुंह लगे, साथ खेले हुए साथी। मारवाडी मे ही बोले—"बधाई है, रावल जी ने, पछे हो जाए कंई दाल रो सीरो आज तो।" पुराने साथी से मिलकर मैं और भी खुश हुआ। मैं उनको

बधाई को स्वीकार करता हुआ कुछ अनुभूति व्यक्त करता उससे पहले ही वे बोले—"और पछै, देख्योक आपांरे भायले कल्लोजी रा रंग। अबार वैंरे सूरज री दशा चोखी है। इयां री जनमपत्री में राजयोग चोखी है।' मैं इसकी भी कुछ प्रसन्नता प्रकट करता, कि साथी की अगली बात बिना रुके निकल पड़ी। बोले—'और आजकालै कठै रैवो हो, मकान-वकान बणायो क नईं ? अबार घणाई कब्जा कर रया है, कठै ई थे ई कब्जो-धब्जो कर-करार एक ढूढो खड़ो कर लो, नई जणैक्स ऐं बेटा थानै रोवैला !' मैं इसका भी कुछ जवाब देता उससे पहले ही वे हँसते हुए, हाथ विदाई का हिलाते हुए, तेज पैंडिल मारकर आगे निकल पड़े।

बात कुछ भी नहीं, फिर भी बहुत कुछ। न जाने क्यों छू गई, कुछ कचोट गई, सोचने लगा कि शायद मेरी रिक्तता को जगा गई। या फिर, क्या कहा जाय, पर यह तो था ही, कि मेरी उस दिन गणतन्त्र दिवस की, जो अनुभूति की गौरवमय अभिव्यक्ति की जो मानसिकता बनी हुई थी—उसे एक विषयान्तर-सा महसूस हुआ। बुरा तो इसलिए नहीं लगा क्योंकि मेरा प्रिय साथी ही था किन्तु विचार की लहर फिर किधर उठ चली, अनुभूति का दौर किधर दिशा मोड़ ले गया—यह तो आज भी मैं महसूस कर रहा हूँ कि उस समय मेरे वश का रहा ही नहीं।

गणतन्त्र दिवस, मेरे बेटे को पुरस्कार—कितनी सुखद अनुभूति ! और इसी बीच थी०डी० कल्ला के सूरज की दशा—राजयोग—कब्जे का मकान—मकान के बिना मेरी सन्तान का भविष्य !, कैसी विचित्र-सी मेरी मानसिकता बन गई थी उस समय !! और······और मैं खोया-खोया चला गया, उसी अनुभूति के क्षणों में। अभी भी याद कर रहा हूँ, उन क्षणों की मानसिकता को ! कई प्रश्न एक साथ खड़े हो गये। पत्र-पत्रिकाओं में आये दिन राजनेताओं की जन्म-कुंडलियों की भविष्यवाणियाँ पढ़ता हूँ। प्रश्न ज्योतिष पर विश्वास या अविश्वास का नहीं ! प्रश्न है—उन आस्थाओं और विश्वासों का कि जिनसे व्यक्ति अपनी दैनिक जीवन की समस्याओं का समाधान करता है। जीवन जीने की मानसिकता को बनाये रखता है। मैं सोच रहा था कि कब्जे की जमीन (!) क्या महाराज गंगा-सिंह के राजतन्त्र में इतनी खुले तौर पर धड़ल्ले से किसी को कब्जा करते मैंने देखा था ? तो क्या यह गणतन्त्र की देन है ? या इन सब कब्जाकारों की जन्म-पत्री में अब जमीन और मकान का योग आ गया ? तो क्या फ्रान्स और रूस की क्रान्ति के समय वहाँ की जनता की सबकी जन्मपत्रियों में योग बदल गये ? हिन्दुस्तान की आजादी की जुझारू पीढ़ी की शहीदाना विरासत मुझे मेरे नाना, दादा और माता-पिता से मिली है। उन्होंने सम्पत्ति अर्जित नहीं की बल्कि समर्पित की—इसी गणतन्त्र को देखने के लिए। रावी के तट पर ली गई सौगन्धों को साकार करने के लिए !! मेरे देश का संविधान बना ! संवैधानिक आस्थाओं का

दम भरकर प्रतिष्ठापन किया गया—मेरे देश के जन-गण द्वारा—जनता के तन, मन, धन द्वारा !! मैं उसी गणतन्त्र की संवैधानिक अनुभूति से अभिभूत हुआ गौरवान्वित जीवन जीना चाहता हूँ। तो क्या, अपनी सन्तान के भविष्य के निर्माण के लिए मेरे देश के संवैधानिक गणतन्त्र के वर्तमान को कलंकित करूँ ? और "असामाजिक, गैर सवैधानिक तरीकों से उस सम्पत्ति को अर्जित करूं कि जिसे मेरे नाना और दादा ने गणतन्त्र लाने को समर्पित की थी ? तो क्या, भाग्य की भाषा मे मकान-दुकान, बैंक-बैलेन्स आदि को सौभाग्य का ग्रह योग माना जाने के कारण मैं अपने आपको दुर्भाग्यशाली मानूं, जो ऐसी बैंक-बैलेन्स की विरासत से मैं वंचित रहा और उन संस्कारों को प्राप्त नही कर सका जो ग्रह योग और भाग्य की परिभाषा को पूर्ण करते हैं। आजादी के दीवानों का दौहिता, पोता और बेटा होने का सौभाग्य महसूस करूं या मकान नही बना सकने का दुर्भाग्य महसूस करूँ ?

मेरा साथी तो मेरी अनुभूति को ललकारती खुराक देकर आगे बढ़ गया था, शायद अब तक तो वह अपने गन्तव्य पर पहुँच भी चुका होगा किन्तु मैं धीमी गति से अभी तक कोर्ट गेट तक पहुँच सका था। मेरी अनुभूति को कुछ व्यग्यकारो की भाषा में ठिठुरते गणतन्त्र की ठिठुरन के कारण सिहरन महसूस होने लगी किन्तु उसी बीच स्काउट्स, गाइड्स,, एन०सी०सी० के कैडेट्स की टोलियो को लौटते हुए देखकर फिर एक बार के लिए मेरे गणतन्त्र की गरिमा ने मुझे गरमा दिया।

मै अनुभव करने लगा कि वास्तव मे हमारी आस्थाओं का दोहरापन हमारे जीवन मे अनेक विसगतियाँ उत्पन्न करता है। अपने दैनिक जीवन की समस्याओं के सही समाधान की दिशा मे अपनी मानसिक दृढ़ता को समाप्त करके गुमराह करता है। समाज मे जीते हुए भी हमे असामाजिक बनाकर कृतघ्न बनकर सिखलाता है। आस्थाओ की दो घोड़े की सवारी, व्यक्ति को तेजी से उलट-पलट कर, खाई-खन्दक पार कर आगे ले जाती है, किन्तु सामाजिक जीवन मूल्यों के राजमार्ग से इतना दूर—इतना दूर पीछे पटक देती है कि फिर वह व्यक्ति, मात्र जन रह जाता है, गण नही बन पाता, न गण बना पाता अतः गणतन्त्र की छाया भी उसे छू नही पाती, भले ही ग्रहो के गण उसके कितने ही तेज क्यो न हो।

मेरी साइकिल अब नागरी भण्डार तक पहुँच चुकी थी। सरस्वती के मन्दिर के निकट पहुँचते ही मुझे लगा कि क्या लक्ष्मी और सरस्वती के आशीर्वाद ने इन सब 'सौभाग्यशालियो को उपलब्धियाँ प्रदान की' या गणतन्त्र के समान अवसरों का यथाशक्ति उपयोग किये जाने पर किसी भी नागरिक के लिए उपलब्धि सम्भव हुई ? इस यथाशक्ति शब्द पर तनिक गौर कर ले तो गणतन्त्र के समान

अवसरों की उपलब्धियों में भिन्नता की जगह असमानता का बोध नही होगा। फिर क्रोध-प्रतिशोध भी गणतन्त्र के प्रति जागृत नही होगी बशर्ते व्यक्तिगत शक्ति का अवमूल्यन कोई न करे। अतः उपलब्धियो का आधार क्या माना जावे ? प्रश्न का उत्तर, आस्थाओं का अन्तर है। यही अन्तर मैं मेरे उस साथी को समझाने का प्यार भरा प्रयास करूँगा।

मैं कुछ क्षण रूक गया। नागरी भण्डार मे समाचार पत्र पढने के लिए विश्राम मुद्रा मे बैठ गया। सरस्वती के भक्तगण आते-जाते बहुत श्रद्धा से घंटी की टनकार दे रहे थे। मैं समाचार पत्र पढ़ता-पढता फिर कुछ खो-सा गया। घंटी की टनकार के साथ मुझे लगा, मानो गीता का स्वर गूँज रहा है—'मामेक शरणं व्रजे' ! यीशु बुला रहे हैं बाइबिल में—'परमेश्वर की शरण में आओ'। कुरान कहती है—'खुदा की शरण मे आओ'। बौद्ध बोल रहे हैं —'बुद्ध शरण गच्छामि' ! किन्तु, घंटी की टनकार अन्त मे विलीन होते-होते मेरे कान मे कुछ झनकार झनझना गई कि संवैधानिक देश के लोगो ! गणतन्त्रं शरणं व्रज। गणतन्त्र की शरण मे आओ। गणतान्त्रिक आस्था को पनपाओ। गणतन्त्र तो एक गणतन्त्र ही है। उसे गणतन्त्र ही बने रहने दो। क्यो विशेषणो के लेबल लगाकर हम गणतन्त्र के अनेक रूप (साम्यवादी गणतन्त्र, पूंजीवादी गणतन्त्र, इस्लामी गणतन्त्र, जनवादी गणतन्त्र) दिखाकर धरती के लाडलो को भ्रमित कर रहे हैं ? सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ! गणतन्त्र को भी एक ही रहने दो।

आइये,हम सब अपने सुख-दुख, आशा-निराशा, विजय-पराजय,उन्नति-अवनति,सम्पत्ति-विपत्ति, संयोग-वियोग, यश-अपयश, सब कुछ-हर छोटी-बड़ी, दैनिक जीवन की समस्या का समाधान गणतन्त्र के संवैधानिक तौर-तरीकों की जीवन प्रणाली मे देखे, खोजें, समझे और गणतान्त्रिक जीवन प्रणाली को ही अपने जन्म-मरण तक का वजनदार उत्तरदायित्व भी समर्पित कर दे किन्तु, साथ ही साथ उसके मूल्यों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी ईमानदारी से निभाने में कोई कसर न छोड़ें। कृतज्ञता की कड़ी को गणतन्त्र से जोड़े।

मन-ही-मन कुछ ऐसी ही अनुभूति करता हुआ मैं नागरी भण्डार से चल पडा। एक बार के लिए फिर से ताजगी महसूस हुई। मेरे साथी द्वारा अनायास ही जगाई गई रिक्तता की जगह पूर्णता का बोध हुआ। सन्तान के लिए मकान बनाऊँगा, अवश्य बनाऊँगा किन्तु यथाशक्ति संवैधानिक गणतन्त्र की जीवन प्रणाली के अनुसार ही बनाऊँगा। धैर्य, सहनशक्ति और विश्वाश की दृढता के साथ सन्तान को भी दोहरी आस्था के भटकाव से बचाने का प्रयास करूँगा।

मैं घर पहुंच चुका था। मेरा बेटा मेरे से पहले ही पहुँच चुका था। पुरस्कार लेने का आँखो देखा हाल सुनाने लगा। मैं बड़े प्यार से बेटे की बात सुन रहा था। मन-ही-मन गद्‌गद हो रहा था। देश की गणतान्त्रिक परम्पराओं को दुआ दे रहा था। आखिर, इन्ही क्षणो की खातिर रावी के तट पर मेरे देश के कर्णधारो ने प्रतिज्ञा की थी। मेरी अनुभूति ठिठुर नही रही थी, गरिमा से गरमा रही थी।

# लोक रक्षक : जीवन-मूल्य-संरक्षक—श्रीकृष्ण

हजारों वर्ष बीत गये, फिर भी, जो आज तक चिरनूतन, चिरपुरातन बना रहा; जिसका व्यक्तित्व और कृतित्व आज भी मानव मात्र की थाती है; जिसको लेकर हजारों टीकाएँ की जा चुकी, कथाएँ कही जा चुकी, हर युग के महापुरुष ने उसे अपने-अपने तराजू पर तोल कर जन-जन मे वितरित किया फिर भी जिसकी महिमा घटी नही - बढती ही गई—ऐसे निरन्तर अजस्रधारा के रूप मे चिरन्तन, निरंजन श्रीकृष्ण के प्रति कुछ भी कहें, उससे पहले विनम्रतापूर्वक उनके कर्तृत्व के सम्मुख नत मस्तक हो लें। भला, ऋषि-मुनि जिसकी महिमा नही गा सके, वहाँ हमारी आपकी तो बिसात ही क्या है ? रसखान ने कितना भव्य वर्णन किया है :—

> सेस, गनेस, दिनेस, महेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर ध्यावैं
> जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद सुवेद बतावैं ।।
> नारद से सुक व्यास रटैं, पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं।
> ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पे नाच नचावैं ।।

इतनी विशाल महिमा और गरिमा वाले श्रीकृष्ण भी अलभ्य नही, दुर्लभ भी नही, अत्यन्त सुलभ हैं—उनके लिए जिनका दिल-दिमाग गोकुल गाँव के ग्वाल-बाल और गोपियों की निश्छलता से निहाल हो।

बाल कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं से लेकर महाभारत के विराट् कृष्ण की युद्ध क्रीड़ाओ तक कृष्ण के तीन स्वरूप प्रमुख रूप से उभर कर आते हैं—लोक रंजक, लोक रक्षक और लोक शिक्षक। इन तीनों स्वरूपो की सही-सही व्याख्या आज तक अंतिम रूप से नही हो सकी क्योंकि हर व्यक्ति को हर क्षण, हर परिस्थिति मे कृष्ण का व्यक्तित्व नया निराला ही दिखाई देता है।

सूरदास कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हुए तो मीरा उसके विरह मे पागल हो उठी। रसखान कृष्ण की याद मे सब कुछ भूलकर बोले— "आठहुँ सिद्धि नवौं निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौ।" उधर तिलक कृष्ण के कर्मयोग से अभिभूत हो उठे तो गांधी उसमे माँ की ममता से अनुभूत होकर बोल उठे— "गीता मेरी माँ है।" विनोबा को मार्क्स के साम्यवाद से दो कदम आगे बढ़कर उसी कृष्ण में साम्य योग नजर आया तो अरविन्द ने कृष्ण को अपने अतिमानसी

दृष्टिकोण से, बहुत पहले ही, पेश कर दिया। यानि, जितने भी व्यक्तियों ने कृष्ण को जिस दृष्टि से देखा उसी दृष्टि से वह उसमें खो गया—

"लाली तेरे लाल की जित देखूं तित लाल;
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गई लाल।"

ऐसे विराट् श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व मे और उनके जीवन चरित्र में कदम-कदम पर इतने विरोधाभास मिलते हैं कि हमारी साधारण बुद्धि कृष्ण के सही और अन्तिम स्वरूप का निर्णय नही कर सकती। ऐसी विरोधाभासी स्थितियों का लाभ उठाकर समाज के गलत तत्वों ने भी समाज को कृष्ण के नाम पर गुमराह किया। जीवन के अमृत समान मूल्यों का अवमूल्यन करके जीना जिनकी आदत बन चुकी है उन मुखौटाधारी छली मानवों को कृष्ण का छलिया रूप बहुत पसन्द आया है। उसी छलिया कृष्ण की दुहाई देकर ऐसे लोग साम-दाम-दण्ड-भेद चारो नीतियों का नैतिक दम भर के अपनी कुटिलता को कौटिल्य की कूटनीति की चादर मे लपेट कर साधारण जन-जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं। ऐसे लोगों को जन्माष्टमी के दिन हृदय से प्रायश्चित करके छलिया कृष्ण के जीवन चरित्र से निश्छलता का सन्देश ग्रहण करना चाहिए। टटोल कर देखिए, निश्छलता के प्रसग भरे पड़े हैं।

जरासन्ध मथुरा पर सत्रह आक्रमण करने के बाद अठारहवाँ आक्रमण करने की तैयारी करने लगा। यादवों की सभा बैठी। सभा में विकद्रु नामक यादव ने एक कटु सत्य कहा—"कृष्ण! हम तुम्हे छोड़ना नहीं चाहते, परन्तु सत्रह-सत्रह प्रचण्ड आक्रमणों से मथुरा का नागरिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है। तुम्हारे कारण ही जरासन्ध ये आक्रमण कर रहा है। अतः समस्त जनता के हित के लिए मैं तुमसे कटु किन्तु सत्य वचन कहता हूँ कि तुम मथुरा को त्याग दो। समाज के हित का तुम विचार करो।" उस समय सारी सभा स्तब्ध। वसुदेव ने भी पुत्र-मोह से अलग होकर इस प्रस्ताव का समर्थन किया। परन्तु दृढ किन्तु त्वरित निर्णय कृष्ण का था कि "विकद्रु तुमने साहस के साथ समाज की अन्दरूनी इच्छा का प्रतिनिधित्व किया है, तुम सबके प्रेम का मैं आभारी हूँ किन्तु तुम्हारे इस प्रस्ताव का सम्मान करते हुए मैं मथुरा छोड़ता हूँ। अपना नया राज्य बसाऊँगा, किन्तु यादव समाज में जिन सस्कारों का मैंने निर्माण किया है उन पर तुम नई पीढ़ी का भी निर्माण करना।" और'''कृष्ण तत्काल अपना नेतृत्व ही नही बल्कि अस्तित्व ही उठा कर मथुरा से चल दिये।

निश्छल भाव से ऐसी प्रजातान्त्रिक आस्था, दृढ़ लोकतान्त्रिक मानसिकता संवैधानिक जीवन-मूल्य की पराकाष्ठा केवल कृष्ण की माला जपने से, जन्माष्टमी का व्रत करने से तथा गीता के श्लोकों को मात्र रट लेने से प्राप्त नहीं होती। इसको प्राप्त करने के लिए कृष्ण के जीवन-चरित्र को केवल यमुना तट का

रसिया और कुरुक्षेत्र का छलिया मात्र न समझ कर, कृष्ण के बुनियादी मानसिक गठन, उसकी विचार-प्रणाली व कार्य-प्रणाली (Line of thinking and Line of action) का गहराई से विश्लेषण करने की आवश्यकता है। हमारी आज की धार्मिक संस्थाओं, सामाजिक व शैक्षणिक संस्थाओं, राजनैतिक संगठनों, सरकारी कार्यालयों और पारिवारिक सन्दर्भों में किसी-न-किसी रूप में (Directly or Indirectly) बड़े-बड़ों के दिल-दिमाग में एकतान्त्रिकता, अधिनायकता छाई हुई है। ऐसे लोग कृष्ण की ऐसी लोकतान्त्रिकता को ग्रहण करना तो दूर, मूलतः समझ ही नहीं सके। मथुरा को छोड़ते समय भी नई पीढ़ी की मानस निर्माण की—Mind making and Brain washing की—चिन्ता कृष्ण को थी। अपने पद-प्रतिष्ठा, मान-अपमान आदि की ऐंठन नहीं थी। कितनी निश्छलता के साथ मथुरा का त्याग कृष्ण ने किया था।

लोकरक्षण के साथ-साथ मूल्य-संरक्षण का भी जबरदस्त प्रसंग कृष्ण चरित्र में आता है। 'नारो वा कुजरोवा' कहलवा कर युधिष्ठिर से भी आंशिक झूठ बुलाने का कृष्ण ने प्रयत्न किया था। अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए झूठ बोलना भी नीति संगत है—ऐसा कूटनीतिज्ञ सयाने लोगों ने समझाया और सत्य के मूल्य का अवमूल्यन किया। किन्तु इसी प्रसंग में हम यह नहीं भूलें कि युधिष्ठिर का रथ दो अंगुल नीचे उतर कर धरातल पर आ गया जोकि दो अंगुल ऊपर चलता था। युधिष्ठिर को इस हानि से कृष्ण बचा नहीं सके। क्योंकि सत्य का मानदण्ड आटे और परचून की तराजू नहीं बल्कि इतना Sensitive scientific chemical balance है कि केश जैसे बारीक तन्तु का वजन भी उसे हिला देता है। नारो वा कुजरो वा जितना तनिक सा InterPretational झूठ जब युधिष्ठिर को धरातल पर ले आया तो कदम-कदम पर झूठ-फरेब और जीवन मूल्यों को मनमाने Interpretation देने वालों के वाहन रसातल में नहीं पहुँचेंगे तो कौन से ठौर पहुँचेंगे? कृष्ण की कथा उनका भ्रम दूर करने के लिए तत्पर है। नई पीढ़ी को कृष्ण का नैतिक मूल्यों का संरक्षक स्वरूप समझाने की आज अत्यन्त आवश्यकता है। कूटनीतिज्ञता की ओट में कुटिलता का पोषण करने का शिक्षण देने की आवश्यकता नहीं।

महाभारत के बाद जो रिक्तता, मूल्यहीनता और विश्रृंखलता समाज में भरपूर आई उसका निराकरण करके कृष्ण ने युधिष्ठिर के माध्यम से समाज का नवनिर्माण किस प्रकार किया, नई पीढ़ी का संस्कार परिष्कार किस प्रकार किया, यह तो आज भी चिन्तन और शोध का विषय है। यदि दो महायुद्धों से संत्रस्त तीसरे महायुद्ध के कगार पर साक्षात् काल भैरव से साक्षात्कार करने के लिए तत्पर आज की मानव पीढ़ी को संस्कार निर्माण की वह संजीवनी बूटी मिली होती

तो दूसरे महायुद्ध के बाद ही शून्यता के मरीज योरोप का धन्वन्तरि, कृष्ण होता। काश ! कि उस धन्वन्तरि कृष्ण की थाती दिल से थाम कर चलता हुआ भारत अपनी आजादी के बाद अपनी नई पीढ़ी को मूल्यवान नहीं बना सका। किन्तु सुबह का भूला शाम को घर लौट आये तो भूला नहीं कहलाता। आइए, जन्माष्टमी के दिन हम आत्मशोधन करें। जीवन के नैतिक मूल्यों की मंजिल पर पहुँचने की कोशिश करें।

# और···मशाल जलती रहे !

## (शिक्षक दिवस के सन्दर्भ में)

दीपक जगमगाता रहे, प्रज्ज्वलित रहे, आग सुलगती रहे और मशाल जलती रहे। चेतना, लगन, प्रेरणा और उद्बोधक के ये सब प्रतीक किसी भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए कब और क्यों महत्वपूर्ण हैं? किसलिए आवश्यक हैं? अवश्य उस समय, जब व्यक्ति या समाज के स्तर पर किसी आन्तरिक निराशा, रुकावट, थकावट, दिशा-भ्रम, अकर्मण्यता आदि के रूप में अंधकार महसूस करते हुए, मार्ग-दर्शन हेतु प्रकाश की आकांक्षा और आवश्यकता हमें तिलमिला देती है।

आज, अपने भारत में, आजादी के 36 वर्ष बुलन्दगी के साथ, योजनाओं-परियोजनाओं के सफल मूल्यांकन के बावजूद, सशक्त सैन्य प्रशिक्षण, उपग्रह प्रेषण, यशस्वी एशियाड और निर्गुट सम्मेलन के बावजूद, ऐसी कौन-सी रिक्तता हमें कचोट रही है? ऐसी कौन-सी कसक कसमसा रही है? और ऐसा कौन-सा दिशाभ्रम मार्ग-दर्शन के लिए तरस रहा है? आखिर मशाल क्यों जलती रहे? उसे भी तो विश्राम कर लेने दिया जाए।

अंग्रेजों की साम्राज्यशाही और रजवाड़ों की सामन्तशाही की तुलना में आज हम अधिक-से-अधिक सरकारी नौकरियों का, खुले व्यापार का, जमीन-जायदाद का, सुख-सुविधाओं का उपयोग कर रहे हैं, फिर भी हम अन्दर से कटे जा रहे हैं, जले जा रहे हैं, तीखी-तेज आलोचनाओं से भुने जा रहे हैं···आखिर ऐसा क्यों? क्या सारा दोष राजनीति पर है? क्या हम, जो मन्त्री पद पर नहीं हैं : बिल्कुल निर्दोष हैं? या घुन कहीं और लगा है? आखिर कहीं तो अंधकार है जो यह महसूस करवा रहा है कि मशाल जलती रहे!

बहुत पहले कहीं सुना था कि यदि 10 वर्ष के लिए निश्चिन्त होना चाहते हैं तो खेती उपजाइये; 50 वर्ष के लिए निश्चिन्तता चाहते हैं तो बाँध बाँधिए, कल-कारखाने लगाइये, किन्तु सदियों-सदियों के लिए निश्चिन्त होना चाहते हैं तो इन्सान बनाइए! इन्सान पैदा करने में और इन्सान बनाने में उतना ही अन्तर है, जितना पत्थर खान से तलाशने में और बाहर तराशने में! अनगढ़ पत्थरों को तराशे बगैर चुन देने में भवन की बनावट में जो भौंडापन महसूस

होता है वही औडेपन भी कसक कचोटती है जब किसी राष्ट्र में इन्सान बनाने का काम बन्द हो जाता है। लगता है, इन छत्तीस वर्षों में इसी काम में कुछ कमी रह गई है जो हमारे विकास की शानदार उपलब्धियों के बावजूद हमारी सारी खुशियों को, राष्ट्रनिर्माण की सुखानुभूति को लील जाती है, निगल जाती है। यह पीड़ा उस समय और भी मर्मान्तक हो उठती है जब हमारी नई पीढ़ी एक 'एँग्रीमैन कैरेक्टर' के रूप में भरी-पूरी और ऊँची नजर आती है।

किन्तु ज्ञान, अनुभव, व्यवहार तथा जीवन-दर्शन की कसौटी पर नितान्त बौनी नजर आती है। इन बड़े-बड़े कल-कारखानों से हम भारी मशीनें और पुर्जे बना सकते हैं, ये बड़े-बड़े बाँध, सिंचाई करके मैदानों को हरा-भरा बना सकते हैं, मगर सदियों-सदियों के लिए निश्चिन्त होने के लिए देश को जिन इन्सानों की जरूरत है, उन्हें कौन बना सकते हैं ? तुरन्त उत्तर मिलेगा—शिक्षक ! शिक्षक के अलावा दुनिया की कोई हस्ती नहीं है, जो इन्सान बना सकती है।

तो क्या छत्तीस वर्षों में शिक्षकों की संख्या कम रही जो इन्सान बनाने में कमी रह गई ? अंग्रेजों और राजाओं के राजतन्त्र की तुलना में इस प्रजातन्त्र में शालाओं और शिक्षकों की संख्या तो दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ी है, बढ़ती जा रही है किन्तु फिर भी इन्सान क्यों नहीं बन रहे हैं ? एक बहुत बड़ा प्रश्न है।

वर्णव्यवस्था को हमने पुराना मानकर, घिसा-पिटा जानकर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। वर्णव्यवस्था की सही ऊँचाई और गहराई को हम समझें तो स्पष्ट होगा कि समाज के निर्माण में और शरीर के निर्माण में 'कैटेबॉलिज्म' और 'एनेबॉलिज्म' की सतत् प्रक्रिया एक जैसी है। समाज में जीवन मूल्यों का हनन; आसुरी, गैर सामाजिक वृत्तियों का जनन; प्रतिक्षण होता रहता है अतः उसके बराबर मुकाबले में शरीर के लाल कणों की भाँति समाज में व्यक्तियों का एक वर्ग, एक समुदाय ऐसा होना ही चाहिए जो निरन्तर अबाध गति से बिना किसी शर्त, लाग-लगाव और बिना किसी प्रतिदान या प्रतिशोध के, केवल निर्माण की धुन में लगा रहे। सामाजिक वृत्तियों, मानव मूल्यों और सकारात्मक जीवन-दर्शन की गिरती दीवारों को रात-दिन चुनता रहे। ऐसा करना समाज निर्माण प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है, जिसे इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसा समुदाय सैक्स और सम्पत्ति, अर्थ और काम को अपनी वृत्ति पर हावी नहीं होने देगा। समाज के ऐसे मूल्य रक्षक वर्ग को ब्राह्मण कहा गया। यानि समाज में इन्सान बनाने वाले तराशने वाले उपकरण का नाम ब्राह्मण है। यदि कोई जन्म से ही ऐसी वृत्ति का व्यक्ति है तो बहुत ही उत्तम है और यदि कोई बाद में ऐसी वृत्ति का बनना चाहता है तो अपने में परिवर्तन करे, उस वृत्ति निर्माण के लिए

प्रयत्नशील रहे। चाहे सनातनी हो, मुसलमान हो, जैन हो, सिक्ख हो, चाहे हरिजन हो या गिरिजन हो, स्त्री हो या पुरुष हो कोई भी हो, किन्तु यदि वह शिक्षक बन जाये तो उसे अपने-आप को ब्राह्मण मानना चाहिए। ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व की पहली शर्त है ज्ञान की गरिमा, व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन की महिमा ! चिन्तन की तेजस्विता और मनन की मनस्विता उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति होती है। आजादी के बाद इन छत्तीस वर्षों में हमारे देश का शिक्षक यानि ब्राह्मण अपनी तेजस्विता का विकास नहीं कर सका। यही कारण है कि इन्सान नहीं बना सका। केवल परिक्षार्थी तैयार कर सका। कोई दूसरा देश इस ब्राह्मणत्व की बात को नहीं समझे तो दुःख नहीं होता किन्तु रोम-रोम तड़प उठता है, जब जब मनु, वशिष्ठ और विश्वामित्र, गार्गी और मैत्रेयी की विरासत का धनी, भारत का निवासी, जब शिक्षक बन जाए और फिर इन्सानों का निर्माण नहीं कर सके ! राम और लक्ष्मण को पैदा किया था दशरथ ने किन्तु उनको बनाया था वशिष्ठ और विश्वामित्र ने ! तब देश का रावणत्व ललकारा जा सका। ये दोनों व्यक्ति वर्षों तक विरोधी रहे किन्तु राम और लक्ष्मण के निर्माण के मामले में एकमत थे, सहमत थे ! आज हमारे देश का ब्राह्मण वशिष्ठ विश्वामित्र यानि शिक्षक खो गया है, ओझल हो गया है। केवल राजनीति को कोसने में, केवल पाठ्यक्रम, परीक्षा-प्रणाली, विभागीय व्यवस्था, पद-प्रमोशन, तबादलों की उलझनों में, आलोचनाओं में, उलझा हुआ शिक्षक भूल गया कि ये उलझनें Generator की हैं, Generation की नहीं। Producer की हैं Production की नहीं। Producer बढ़िया होगा तो Production घटिया नहीं हो सकती।

या तो शिक्षक को यह ब्राह्मण वृत्ति स्वीकार ही नहीं करनी चाहिए और जब स्वीकार कर ही ली तो इस वृत्ति के रंग में पूरा रँगना चाहिए। ब्राह्मण वृत्ति का व्यक्ति अन्य तरह की वृत्ति रखे, ज्ञान-गुण, चिन्तन, मनन और व्यवहार की शालीनता को खोकर जीवन मूल्यों का अवमूल्यन करे, सैक्स और संपत्ति उस पर हावी हो जाए, तो यह बदरंग स्थिति, वृत्ति संकरता ही देश के इन्सानों का निर्माण करने में बाधक बना करती है, अन्धकार उत्पन्न किया करती है।

इसका अर्थ यह नहीं कि शिक्षक निर्धन हो जाए, सुख-सुविधा से वंचित हो जाए। निवास के अभाव में बनवासी हो जाए। यह धारणा नादानी का लक्षण है। सोने की झालर और सोने से मढ़ी सींगों वाली एक हजार गायों के अधिकारी याज्ञवल्क्य निर्धन नहीं थे। हजारों छात्रों के गुरुकुलों के संचालक ऋषि-मुनि निर्धन और विपन्न नहीं थे। किन्तु उनकी सम्पन्नता का आधार, गैर सामाजिक

आचरण और जीवन मूल्यो का अवमूल्यन नही था। उनके मूल में वृत्ति संकरता नही थी। आज का शिक्षक ब्राह्मण सम्पन्नता चाहता है, जीवन-मूल्यो की कब्र पर, ज्ञान-गुणो के चिंतन की चिता पर ! बस ! तभी देश की सरस्वती तिलमिला उठती है, तडप उठती है, इसीलिए ज्ञान का सूर्य अस्त हो रहा है, अन्धकार में भटकता देश का मानस आशा सँजोए बैठा है कि ब्राह्मणत्व का दीपक न बुझे और शिक्षक के हाथ मे थमी यह जीवन-मूल्यो की मशाल जलती रहे ! जलती रहे !! जलती रहे !!!

# सह-अस्तित्व के बुनियादी अवधारक—नेहरू

दिनांक 27 मई - पंडित नेहरू की पुण्यतिथि ! ऐसा सुनते हैं कि व्यक्ति पूजा श्रेय नहीं ! किन्तु सही अर्थों मे सोचा जाए तो आज तक व्यक्ति को पूजा किसने ? व्यक्ति कभी नही पूजा गया । न कभी पूजा जाएगा । किन्तु, व्यक्तित्व को न तो आज तक कोई नकार सका, न कभी नकार सकेगा ! व्यक्तित्व ही एक ऐसा अमूर्त तत्त्व है जो व्यक्ति को श्रेय अथवा श्रेणी प्रदान करता है—वर्गीकृत (catagorised) करता है । व्यक्ति का रूप-स्वरूप, आकार-प्रकार, नाम-धाम आदि तो उस अभिव्यक्त व्यक्ति का प्रतीक मात्र होता है, परिचायक आधार मात्र होता है । अतः जिस व्यक्ति ने अपने सामाजिक राजनैतिक विश्व के धरातल पर प्रेम, शान्ति और सह्-अस्तित्व के जीवन-दर्शन को मूर्तिमान् किया; जिस व्यक्तित्व ने शान्ति और सह-अस्तित्व को केवल बौद्धिक खुराक मात्र नही बल्कि जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकार और साकार किया—उस व्यक्तित्व की खातिर 27 मई और 14 नवम्बर याद की जाती हैं, की जाती रहेंगी ।

मनुष्य की मनोवृत्ति के साथ प्रकृति ने एक खिलवाड़ की है । यह एक विडम्बना ही कही जाएगी कि गैर सामाजिक, अमानवीय, आसुरी शक्तियों के विकास की 'ग्लैमर' की चकाचौंध मे हम सामाजिक, मानवीय शाश्वत मूल्यों के प्रति अनास्थावान एक क्षण में हो जाते है । लगता है, मानो तूफानी झंझावात से उत्पन्न अँधेरे को देखकर हम सूर्य की प्रकाशदायिनी शक्ति के प्रति ही अनास्थावान हो गये हों । लगता है, मानो हैजा, टी०बी० और कैन्सर के शक्तिशाली कीटाणुओं से मरने वालो को देखकर हम स्वास्थ्य, जीवन और आयुर्विज्ञान के प्रति ही अनास्थावान हो गये हों । और ठीक इसी प्रकार रामायण, महाभारत काल से लेकर द्वितीय महायुद्ध तथा वर्तमान शीतयुद्धों से घिरते-घहराते वातावरण में हिंसा, युद्ध तथा विनाश का ताजा से ताजा ग्लैमर देखकर मनुष्य; बेचारा प्रकृति से अभिशप्त मनुष्य प्रेम, शान्ति और सह-अस्तित्व के धनी व्यक्तित्व के प्रति ही अनास्थावान हो उठता है । किन्तु, जिस प्रकार सूर्य और आयुर्विज्ञान के प्रति अनास्थावान होना नादानी का लक्षण है, उसी प्रकार शान्ति और सह-अस्तित्व के प्रति भी अनास्थावान होना बौद्धिक अपरिपक्वता का लक्षण है ।

हम तनिक गहराई से सोचें कि हमारे समाज की रोजाना की जिन्दगी के चौबीस घंटों का कार्य-व्यापार-व्यवहार-लेन-देन-कार्य-कलाप चाहे परिवार के स्तर पर हो, चाहे कार्यालय, सभा-सोसाइटी के स्तर पर हो किन्तु वह सब कार्य-कलाप कुछ प्रतिशत गैर सामाजिक तत्त्वों द्वारा जीवित और संचालित है (?) या अधिक प्रतिशत सामाजिक तत्त्वों द्वारा सचालित और सरक्षित है ? घूसखोरी, चोरबाजारी, तस्करी, जमाखोरी, कत्ल, डाका, आगजनी आदि सभी प्रकार की हरकतें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से ईमानदार सहयोगियों, साथ निभाने वाले अधिकारियों डॉक्टरों-वकीलों आदि समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों के प्रेम, विश्वास, सहयोग व सह-अस्तित्व की भावना पर ही कामयाब होती है। अर्थात् गैर सामाजिक प्रवृत्तियों की भी नीव हिल जाए, यदि उनके स्तर पर सहयोग और सह-अस्तित्व उनमे से हटा लिया जाए !

सर्वशक्तिमान् प्रकृति के विनाशकारी भूकम्प तथा महाशक्तिमान् परमाणु के विध्वंसकारी बम का सर्वाधिक अभिशप्त जापान यदि आज भी ऊँचा मस्तक किए जीवित है तो यह मनुष्य की सृजनशील, सकारात्मक आस्थाओं—प्रेम, विश्वास, सहयोग, शान्ति और सह-अस्तित्व की ही प्रत्यक्ष विजय है।

आज यह मात्र भावनात्मक-काल्पनिक उडान नही बल्कि विश्व का ध्रुव सत्य सिद्ध हो चुका है कि जितनी अधिक मात्रा मे हम विज्ञान की ओर बढते जा रहे हैं उतनी ही अधिक हमारी परिस्थितियाँ और मनःस्थितियाँ हमे शान्ति और सह-अस्तित्व की ओर बढने के लिए मजबूर कर रही है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों मे लगता है कि युद्ध के बादल अब मँडराये तब मँडराये किन्तु हर बार विश्वयुद्ध का टल जाना इस बात का प्रमाण है कि बुद्धिधर्मी मानव चाहे खुद कितना ही ईर्ष्या, प्रतिशोध अविश्वास और अशान्ति की दवाग्नि से झुलस जाय किन्तु प्रेम, शान्ति और सह-अस्तित्व का लेपन ही अन्ततोगत्वा मानव जीवन की स्वस्थता का आधार है जिसके बिना मनुष्य समाजिक सन्दर्भो मे सुख-शान्ति से जीने की कल्पना ही नही कर सकता। बिल्कुल इसी युगसम्मत, विज्ञानसगत, तर्कसंगत आधारो पर नेहरू जी की आस्था ने दृढ सकल्प धारण किया था और विश्व की कूटनीति के मरुस्थल मे उन्होंने शान्ति और सह-अस्तित्व के 'ओसिस' का निर्माण किया था।

सह-अस्तित्व की भावना तभी विकसित हो सकती है जब मनुष्य मे सामाजिक कृतज्ञता का अहसास पूरी तरह कूट-कूटकर भर दिया जाए ! जिस भी क्षण कोई व्यक्ति समाज या राष्ट्र यह बोलता या सोचता मात्र भी है कि अमुक बात या घटना मे "तुम मेरा क्या कर सकते हो ? मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं तुम्हारे बिना भी जी सकता हूँ।"—बस, वही समझ लें कि वह व्यक्ति, समाज या राष्ट्र भ्रमित हो गया। जब तक हमारा रोम-रोम यह नही बोलेगा कि मेरी अकेली

इकाई का कोई अस्तित्व नही है तब तक सह-अस्तित्व का कोई व्यक्तित्व नही निखर सकेगा। हर कदम पर मनुष्य की इकाई यह महसूस करे कि सह-मानव से हटकर मेरा कोई जीवन नही है। वह सह-मानव मेरा निकटतम हो या दूरतम किन्तु वह है तो सह-मानव जो कि सह-इकाई है। दक्षिण भारत के एक व्यापारी के लिए सुदूर उत्तरी ध्रुव के सह-मानव की ग्राहकी नही है किन्तु फिर भी ग्राहक नाम की इकाई के महत्त्व को समझते हुए उत्तरी ध्रुव के उस अज्ञात ग्राहक सह-मानव के प्रति भी वह कृतज्ञता महसूस करे ऐसा मानसिक प्रशिक्षण सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक ही नही बल्कि अनिवार्य भी है। इस अनुभूति के लिए सबसे बड़ा मानसिक प्रशिक्षण इस बात का करना होगा कि सह-अस्तित्व की भावना की रक्षा के लिए यदि स्वय की बेलाग दौड़, बेलगाम हित साधना में बाधा, हानि तथा बढ़ोतरी की जगह घटोतरी भी हो तो स्वीकार है किन्तु सह-अस्तित्व की भावना पर खरोंच मात्र भी स्वीकार नही है। ऐसा जब सम्भव होगा तब यह माना जा सकेगा कि सह-अस्तित्व को हमने जीवन-मूल्य के रूप में अंगीकार किया। तब ही व्यक्ति समाज, राष्ट्र के स्तरो पर आपाधापी, हड़प-धड़प आदि के नजारे देखने को नही मिलेंगे! फिर न तिब्बत हड़पा जाएगा, न वियतनाम दबोचा जाएगा, न अफगानिस्तान विवाद का विषय बनेगा और न ईरान अमरीका से टक्कर लेगा क्योंकि फिर सह-अस्तित्व की रक्षा की खातिर अन्य अनेक हठ, आग्रह, आशाएं-प्रत्याशाएं तुरन्त छोड़ने के लिए हर स्तर पर हर इकाई तैयार रहेगी।

नेहरूजी का एक और दार्शनिक आधार था। मनुष्य सुख चाहता है। भले ही सुख की परिभाषा अपनी-अपनी अलग-अलग होती रहे किन्तु यह तो सबको मानना ही पड़ेगा कि शान्ति के बिना सुख का कोई आधार नही। बल्कि सामाजिक सन्दर्भों में सह-मानव के साथ जिन्दा रहते हुए समाज से कटकर या उसे काटकर यदि जिये भी तो क्या जिये ? समाज से जुड़कर और उसे जोड़कर जिस शान्ति-पूर्ण जीवन की कल्पना की जा सकती है उस सुख-शान्ति की उपलब्धि सह-अस्तित्व के संकल्प पर ही आधारित हो सकती है। महात्मा बुद्ध ने प्रेम से भी अधिक मैत्री को महत्त्व दिया था। प्रेम मनुष्य मे किसी भी क्षण एकाधिकार, सर्वाधिकार अथवा विलीनीकरण की स्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है—किन्तु मैत्री ? मैत्री तो सदा-सर्वदा विशुद्ध सह-अस्तित्व का पोषण करती हुई शान्ति के शिक्षण के साथ सुख का रक्षण करती है। प० नेहरू को बौद्ध-दर्शन का यह मैत्री पक्ष अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुआ। यही कारण था कि स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति को मैत्री के बुनियादी सूत्रो पर निर्देशित किया गया।

नेहरू जी के दृष्टिकोण से सह-अस्तित्व को हम समझना चाहे तो हमे 'Consideration for others' की दार्शनिक भूमिका को समझने का प्रयास करना

चाहिए! अर्थात् सह-मानव के—पड़ोसी के—अस्तित्व और व्यक्तित्व को स्वीकार करना, मान्यता देना, आदर देना एक ऐसा मानसिक प्रशिक्षण है कि जिसकी नींव पर सह-अस्तित्वमुखी सुख-शान्ति की विशाल मंजिलें खड़ी की जा सकती हैं। जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद, बौद्ध-दर्शन की मैत्री, ईसा का प्रेम, कबीर व नानक का एकेश्वरवाद, रामकृष्ण परमहंस का सर्वधर्म अनुशीलन और गाँधी का सर्व-धर्म समभाव—इन सबको 'Consideration for others' के धागे में पिरो कर चला जाए तो सर्वधर्म समभाव से आगे बढ़कर हम सर्ववाद समभाव और सर्वव्यक्ति समभाव की मानसिक स्थिति तक पहुँच सकते हैं। उस सीमा में पहुँचने पर मनुष्य का जीवन 'जीओ और जीने दो' Live and Let live के सिद्धान्त से आगे बढ़कर अन्त्योदय की मंजिल पार करता हुआ सर्वोदय तक पहुँच जाता है जहाँ पहुँचकर मनुष्य का चिन्तन बरबस बोल उठता है—'Live to let live' इस प्रकार जियो कि दूसरों को जिन्दा रखने में सहयोगी और सार्थक बन सको।

प० नेहरू के चिन्तन व दर्शन को इन्हीं सब सन्दर्भों में समझने का प्रयास करते हुए हम वैदिक ऋचा के स्वरों के साथ उनके शान्ति और सह-अस्तित्व का उद्घोष करें—

ओम् सहनाववतु
सहनौ भुनक्तु
सहवीर्य करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु
मा विद्विषावहै
ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

# सत्य का मोल

सत्य ! केवल ढाई अक्षर के इस शब्द के चारो ओर मनुष्य के जीवन का, जीव-जगत् और दर्शन का, भूत-भविष्य और वर्तमान का, सुख-दुःख, आशा-निराशा, उचित-अनुचित के झझावात का चिन्तन, खोर और प्रयोग के निरन्तर विकास का एक ऐसा ताना-बाना बुना हुआ है, केवल तनिक से इस सत्य शब्द के इनारे-किनारे युद्ध और शान्ति, जीवन और मरण, आसक्ति और विरक्ति आदि का एक ऐसा इतिहास घिरा हुआ है कि लगता है—मानो, सत्य के अतिरिक्त अन्य कुछ भी जगत् मे नही है। जो कुछ है—सत्य का ही कारोबार है। अर्थात् सत्य ही इस सृष्टि का मूल तत्व है। कदाचित इसीलिए गाधी ने Truth is God and God is Truth कह कर अपने सारे जीवन को सत्य का प्रयोग मात्र बतलाया। हमारे सुदूर पौराणिक इतिहास मे सत्य के लिए ही सुर-असुर संग्राम, रामायण-महाभारत, महावीर और बुद्ध का वैराग्य, ईसा की शूली, मोहम्मद की हिजरत, मीरां और सुकरात को जहर का प्याला —ये सब कार्यकलाप सत्य के ही इर्द-गिर्द दिखाई दे रहे है। विदेशों की लोक-कथाओं मे या महाकाव्यों मे भी हमारे रामायण और महाभारत की ही भाँति सत्य की अन्त मे विजय दिखाई गई है। इलियड और ओडेसी मे भी सत्य की प्रतिष्ठा देखने को मिलती है। अतः सत्य मानव मात्र की थाती है। समूचे विश्व मे राजा, राष्ट्रपति, न्याय-पालिका, दण्ड-पालिका, पुलिस, सी० आई० डी०, सी० बी० आई० जैसी व्यवस्थाओं का संचालन सत्य की रक्षा के लिए सत्य की खोज के लिए, सत्य को स्वीकार करने-कराने के लिए यानि सत्य की प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए ही तो किया जा रहा है। भारत मे तो सत्य के विजय पर्व के रूप मे दशहरा और राष्ट्रीय चिह्न में 'सत्यमेव जयते' स्वीकार करना सत्य की परम प्रतिष्ठा को स्वीकार करना है।

सत्य की इतनी महिमा भरे स्वरो के बीच सत्य के सेनानी कबीर की ही एक दर्द भरी आवाज फूट पड़ी—

"साँच कहूँ तो मारि हैं, झूठे जग पतियाइ।
ये जग काली कूकरी, जे छेड़ँ तो खाई॥"

आदि-अनादि काल से सत्य के इतने जबरदस्त पड़ाव और घेराव में से

निकल कर झूठ की प्रतिष्ठा, झूठ पर विश्वास, सच कहने पर मारा जाना—यह सब विरोधाभास एक बार के लिए झनझना देता है—सत्य के सारे महल को क्षण भर में खण्डहर बना देता है। रही-सही आस्था उस समय और भी चरमराकर चूर हो जाती है जब बड़ी कसक के साथ गली-मोहल्ले में, चौपाटी-चौपाल में बच्चे से लेकर बूढ़ा तक सच बोलने से डरता है। कहता है—सच कौन बोले? सच बोलने वाला मरता है। सच कौन सुने? झूठ प्यारा लगता है। सच्चा प्राणी दुःख पाता है, झूठा सुख पाता है—ऐशो-आराम, दौलत पाता है। यदि यही हालत है तो सत्य के नाम पर इतना नाटक क्यों रचा जाता है? यदि सत्य कष्ट पाने के लिए ही होता है तब साधारण तौर पर सुख की जिन्दगी चाहने वाला समाज दुःख क्यों जान-बूझकर गले लगाये? या तो हमारा धर्म-दर्शन इस विरोधाभास को दूर करे और सिद्ध करे कि सत्य में सुख निवास करता है, सत्यवादी इसी जन्म में सुखी होता है। आज तक यही समझा कि सत्य की विजय अन्त में होती है और अन्त तक, साधारण व्यक्ति का धैर्य, साहस-साथ नहीं देता। सत्य सदैव दुखात्मक रहा है। इसीलिए इसकी ठेकेदारी सदैव महापुरुषों ने ही ली है। किन्तु दुःखात्मक सत्य के ठेकेदार महापुरुषों को भी सुख के दावेदार समाज के बीच जीना पड़ता है वह समाज सत्य को तब तक स्वीकार नहीं कर सकता जब तक कि सत्य की विजय अन्त में होने की अपेक्षा शुरू में न होने लग जाय। इसके लिए हमें सत्य के चिन्तन और शिक्षण की दिशा ही बदलनी होगी।

समाज के 'से मैन' का मानस जिधर ढाल दिया जाय उधर ही ढल जाता है। जरूरत है ढालने वाले चिन्तनशील मनीषियों की। यज्ञ, कर्मकाण्ड और नरबलि के लिए तैयार जन-मानस बुद्ध और महावीर द्वारा अहिंसा के प्रति तैयार किया जा सकता है, कट्टर मूर्तिपूजक भारत में स्वामी दयानन्द द्वारा मूर्ति विरोधी आर्य समाजी तैयार किए जा सकते हैं तो समाज को ऐसे वातावरण के लिए भी ढाला जा सकता है जिसमें सत्यवादी भी ऐशो-आराम और दौलत पाने का हकदार हो। समाज में ऐसी सम्भवनाएँ जगाई जा सकती हैं जिनमें सत्य को कदम रखते ही विजय मिले जिससे कि सत्य के प्रति साधारण व्यक्ति की भी रुचि जागृत हो। अन्त में सत्य की विजय होती है—ऐसी अन्तिम इन्तजारी की खातिर सत्य दम तोड़ता हुआ, गला घोटता हुआ नजर न आए—ऐसा वातावरण समाज में बनाया जा सकता है किन्तु इसके लिए हमें सत्य के चिन्तन और शिक्षण की दिशा बदलनी होगी।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा ने सत्य को जो व्यथा प्रदान की है यह तो विश्व की विडम्बना है। सत्य, अरे आम नीलाम हो रहा है। बाजार में बोली लग रही है। बाजारू भीड़ में सब भीड़ बने खड़े हैं—सज्जन-गुणीजन-विद्वज्जन-

नीजन और···और हिम्मत के साथ सत्य को खरीदकर-घसीटकर ले जाता है—
ांडाल ! जिस समाज में चांडाल के हाथो सत्य बिकेगा (बिकना ही जहाँ सत्य की
ायति होगी) तो उस समाज का निन्नानवे दशमलव नौ, नौ, नौ प्रतिशत व्यक्ति
ूठ बोलेगा—सरासर झूठ ।

(तो) आइये ! यदि हिम्मत है तो, चिन्तन के क्षणों में संकल्प करें, आत्म-
ोधन करें कि जीवन के कदम-कदम पर बिखरे हुए सत्य के प्रति हमारे रौंए-
ौंए के किसी कोने मे कही चाडाल छिपा हुआ तो नही बैठा है ।

# शक्ति का सदुपयोग

यदि केवल सत्य ही प्रधान होता और शक्ति गौण होती तो गुरु विशवामित्र को राम-लक्ष्मण की शक्ति की माँग नही करनी पड़ती; यदि शक्ति सत्य के अस्तित्व का आधार न होती तो जापान मे सत्य के दीप और शक्ति की तलवार का सयुक्त प्रतीक न होता; यदि सत्य ही सक्षम होता तो गुरु गोविन्द सिंह को 'सत्य का सैनिकीकरण' न करना पड़ता !

अतः यह निर्विवाद है कि एक तरफ सत्य के लिए शक्ति आवश्यक ही नही बल्कि अनिवार्य है तो दूसरी तरफ शक्ति मे व्यक्ति का अवमूल्यन कर देने का खतरा भी सयुक्त है। किसी ऋषि ने एक चूहे को क्रमशः शक्ति प्रदान करते-करते शेर बना दिया। शेर बनते ही उसने ऋषि पर ही पूरी शक्ति के साथ आक्रमण किया। ऋषि को समझ मे आ गया कि शक्ति मे अवमूल्यित (मूल्य-हीन) हो जाने का जबरदस्त खतरा है। ऐसा ही खतरा शक्तियों के वरदान प्राप्त भस्मासुर, रावण और बालि तथा हिरण्यकश्यप की कथाओ मे देखने-समझने को मिलता है। इन कथाओं मे इस जगत का एक जागतिक सत्य समाया हुआ है कि शक्ति एक ऐसा तत्व है कि जिसके किसी भी क्षण दुरुपयोग हो जाने का भयंकर खतरा है। माँ भगवती की उपासना से प्राप्त शक्ति जहाँ गदाधर को रामकृष्ण परमहंस बना सकती है वही माँ भगवती की उपासना से प्राप्त शक्ति मानसिंह को सफल डाकू बना सकती है। जो परमाणु शक्ति औषधि व उपकरण बन कर जीवन की रक्षा करती है वही परमाणु शक्ति हिरोशिमा नागासाकी मे जीवन समाप्त भी करती है। यही कारण है कि शक्ति के सदुपयोग की बात विचारणीय बनती है।

दैनिक जीवन के स्तर पर विचार करे तो हम देखेंगे कि धनवान की शक्ति उत्तरदायी है—निर्धन के शोषण के लिए; बलवान की शक्ति उत्तरदायी है—निर्बल के संत्रास के लिए। युवा शक्ति शक्तिशाली है पुरातन पुरुषों के लिए; माता-पिता, अभिभावक शक्तिशाली है—सन्तानों के लिए; अधिकारी शक्तिशाली है—कर्मचारी के लिये और राजनीति विज्ञान की संवैधानिक भाषा में राजा —राष्ट्रपति-प्रधानमन्त्री शक्तिशाली हैं—समूचे राष्ट्र के लिए ! तब यदि समाज मे चारो तरफ असन्तुलन और असन्तोष के कारण समाज का एक घटक दूसरे

रहती है। इस क्षात्र तेज के दो स्वरूप होते हैं—हिंसक क्षात्र तेज और अहिंसक क्षात्र तेज ! हिंसक क्षात्र तेज मे दुरुपयोग तथा अवमूल्यन की सम्भावनाएँ अधिक-से-अधिक मौजूद है जब कि अहिंसक क्षात्र तेज के मूल दर्शन में ही प्रेम, सद्भावना, विवेक, अनासक्ति और इस सबसे ऊपर आत्म-विश्लेषण आत्म-शुद्धि समाई हुई है। अतः शक्ति के सदुपयोग की दिशा में अहिंसक क्षात्र तेज, इस धरती के धरातल पर मानसी सीमाओ मे युगसम्मत है, युगानुकूल है ! गांधी ने इसी अहिंसक क्षात्र तेज का सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र मे बड़े स्तर पर सामूहिक रूप मे प्रयोग किया था। उस प्रयोग को आगे बढाने तथा उस दिशा में नए शोधपूर्ण आयाम पेश करने का काम नई पीढी का था जो अब विचारणीय है !

# सत्य और शक्ति के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गांधी

30 जनवरी सन् 1948 की शाम ! केवल हिन्दुस्तान के लिए ही नहीं बल्कि मानव मात्र के लिए, इतिहास की पुनरावृत्ति की एक ऐसी खौफनाक शाम—जिसने यह सोचने के लिए मजबूर किया कि इस धरती पर चाहे कैसा भी युग क्यों न हो किन्तु सुर-असुर संग्राम शाश्वत है। अतः गांधी को गोली मारने वाले केवल 1948 ईस्वी सन् वाले गोडसे को दोष देना व्यर्थ है क्योंकि मनुष्य की विडम्बना रही है कि सत्य इसी प्रकार तिरोहित होता आया है।

आसुरी-बर्बरी शक्तियों के सम्मुख सत्य सदैव मरता आया है। कहते हैं—'मंथरा' की मंत्रणा से यन्त्रणा पाया हुआ राम विजयी होकर आया था, लेकिन सुना है कि 'धोबी' की पछाड़ खाकर रामराज्य उजड़ता आया है। यदि ईसा को शूली, गांधी की गोली; सुकरात और मीरा को जहर; दयानन्द को काँच के टुकड़े; मोहम्मद को पत्थरों की बौछार—यह सब कुछ सत्य है तो आत्म-प्रवंचना से अपनी रक्षा करते हुए हमें 'सत्यमेव जयते' कहने के सन्दर्भों को बदलना होगा। सत्य कभी अपने आपको जीवित-अपराजित नहीं रख सका। गहरे अतीत में पराजित सत्य की कब्र पर चिन्तन की चर्चाएँ करके वर्तमान परिस्थितियों की तराजू पर अनुकूलता के मनमौजी बाट रखकर वणिक वृत्ति से तौल कर जब मनुष्य 'सत्यमेव जयते' का उद्‌घोष करता है तब सत्य के प्रति कितना न्याय हो पाता है—इसका निर्णय आज तक कोई नहीं कर सका। यही कारण है कि हर 2 अक्टूबर और 30 जनवरी को हम गांधी का सत्य तोलते हैं किन्तु वह सत्य है जो प्राप्त ही नहीं होता—तुलता ही नहीं और हम फिर आने वाली तारीख तक चुप होकर बैठ जाते हैं।

मनुष्य के जीवन में सत्य की रक्षा शक्ति किया करती है। शक्ति के दो रूप होते हैं—आध्यात्मिक और भौतिक ! आध्यात्मिक शक्ति 'अति मानसी' शक्ति हुआ करती है जो भौतिक स्तर पर सुलभ नहीं होती। भौतिक स्तर पर शक्ति के दो रूप होते हैं—ब्रह्म तेज और क्षात्र तेज ! ब्रह्म तेज को सदैव अपने अस्तित्व के लिए क्षात्र तेज की आवश्यकता बनी रहती है। इस क्षात्र तेज के भी दो रूप होते हैं—हिंसक क्षात्र तेज और अहिंसक क्षात्र तेज ! चूंकि, मनुष्य के इतिहास में या तो हिंसक क्षात्र तेज ही आज तक विकसित

और अनुमोदित होता आया है और या फिर उसके वलोम कायरता—कापुरुषता को ही स्थान मिलता आया है। किन्तु हिंसक क्षात्र तेज के विकल्प के रूप में मनुष्य के जीवन के हर क्षेत्र में अहिंसक क्षात्र तेज को भी छोटे से लेकर बड़े स्तर तक काम में लिया जा सकता है, उसका विकास किया जा सकता है ऐसी सम्भावनाओं को उजागर करने वाला गांधी; ऐसी नई दिशा का निर्माण करने वाला प्रयोगशील गांधी यदि हिंसक क्षात्र तेज की युगों-युगों से चली आने वाली आंधी में खो जाय तो फिर वर्तमान परिस्थितियों में (जोकि हिंसक क्षात्र तेज की ही समर्थक हैं) उस खोये हुए गांधी को खोजने के लिए हमें अतीत की परिस्थितियों में भी जाना होगा ! गांधी की इस अहिंसक क्षात्र तेज की मनस्विता को सुलझे हुए रूप में नहीं समझने के कारण हम उसे कायरता-कापुरुषता का प्रतीक मानकर अपने पौरुष-प्रदर्शन के क्षणों में उसे भूल जाते हैं। यदि गांधी की अहिंसा ने हमें 'अपील' किया होता तो इतनी जल्दी हम उसको नहीं भूलते !

गांधी ने गीता को माँ कहा है। उधर गीता में हिंसा का समर्थन हुआ है ! अब साधारण व्यक्ति इस अन्तर्विरोध में भ्रमित हो जाता है। हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि गांधी ने शिक्षक और शिक्षण की दार्शनिकता गीता से ली है, गांधी ने कर्म की दिशा गीता से प्राप्त की है किन्तु हिंसा की मान्यता गीता से ग्रहण नहीं की। राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कूटनीति और फूटनीति के धरातल पर अति आधुनिक विकास की ओर बढ़ने वाले हिंसक क्षात्र तेज के वातावरण में सीधे बड़े पैमाने पर सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसक क्षात्र तेज का प्रयोग करने की हिम्मत; उस प्रयोग की सम्भावनाओं की कीमत गांधी ने अपनी मौलिक देन के रूप में पेश की है। गीताकार के युग तक यह प्रयोग मनुष्य के चिन्तन की सीमा में नहीं आया—ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु, भारत की अतीत की गहराइयों में से गांधी का चिन्तन अहिंसक क्षात्र तेज को खोज लाया इसका श्रेय तो हमें गांधी को देना ही होगा।

महान् अशोक की महानता के गौरवगान में हिंसा की प्रतीक तलवार को ताक में उठा कर रखवा दिया गया। अहिंसा के पौरुष को विकल्प के रूप में जागृत नहीं किया गया। परिणामस्वरूप, गजनी से चला गजनवी ! कश्मीर, पंजाब, राजस्थान, गुजरात—सब की सीमाएँ पार करता हुआ बेधड़क सोमनाथ लूटता हुआ, सारी सम्पत्ति लादता हुआ वापस सुरक्षित गजनी लौट गया। इन सब प्रान्तों की फौजी शक्ति को क्या साँप सूँघ गया ? कहाँ चला गया था 'जनरल ले मैन' और कहाँ चली गई थी उसकी आध्यात्मिक शक्ति ? हमारी आध्यात्मिकता ने हमारे जनमानस को अत्याचार सहने की शक्ति तथा अत्याचारी से सहयोग करने की वृत्ति प्रदान की किन्तु अत्याचारी के अत्याचार को

ललकारने की पौरुष वृत्ति प्रदान नहीं की।

वेद से वेदान्त तक और महावीर एवं बुद्ध से लेकर दयानन्द तथा अरविन्द तक आध्यात्मिकता के नाम पर आर्थिक-राजनैतिक उदासीनता को पनपा कर; आध्यात्मिक सम्पन्नता की अफीमी घूंट पिला कर, आर्थिक-राजनैतिक विपन्नता इस कदर —इस सीमा तक— पहुँचाई गई कि देश अपनी आजादी खो बैठा। फिर खोई हुई आजादी को पाने के लिए आक्रान्ताओं से सीधी संगठन युक्त टक्कर लेने का पौरुष तत्व 'जनरल लें मैन' के जीवन तत्व में से समाप्त हो गया। सीधी टक्कर लेने की हिम्मत को छोड़कर पलायनवादिता की चरम सीमा उस समय देखने को मिली जब देश की आर्थिक व राजनैतिक शक्ति जागृत करने के लिए अरविन्द घोष मैदाने-जंग में उतरे किन्तु आध्यात्मिक शक्ति संजोने के लिए पाँडिचेरी में आश्रम खोल कर बैठ गये। सुभाष की आजाद हिन्द फौज में सीधी टक्कर लेने की महत्वाकांक्षा तो थी किन्तु आक्रान्ताओं की बर्बर शक्ति की तुलना में उसमें क्षमता नहीं थी। उस फौज में बाहरी शक्तियों से मदद लेकर काँटे को काँटे से निकालने की वह ऐतिहासिक भूल समाई हुई थी जिस भूल को देश जयचन्द, साँगा और पानीपत के इतिहास में कर चुका था। टीपू सुल्तान और नाना साहब भी अपने-अपने समय में विदेशों के सामने हाथ पसार चुके थे। अब देश को समझाने की जरूरत थी और है कि बाह्य उपचार की तुलना में शरीर की आन्तरिक एक-एक लाल कण की स्वस्थता स्थायी स्वास्थ्य का आधार हुआ करती है। ठीक, इसके साथ-साथ, देश को यह भी समझने की जरूरत थी और है कि किसी भी देश की स्थायी शक्ति केवल उसके फौजी जवानों में निहित नहीं होती बल्कि एक-एक बच्चे से लेकर बूढ़े तक आजादी की चेतना, मर-मिटने की प्रेरणा, आक्रान्ता के सम्मुख सीना तानकर अभय के साथ विरोध और असहयोग करने की मजबूत धारणा में देश की स्थायी शक्ति हुआ करती है। और···यही शक्ति भारत के 'जनरल लें मैन' की समाप्त कर दी गई— सदियों-सदियों से।

परिणामस्वरूप हमारा जनमानस परमुखापेक्षी हो गया। कोई दूसरा हमें शक्ति देगा, कोई दूसरा हमारी रक्षा करेगा, कोई दूसरा धर्मावतार होगा तब अधर्म का नाश होगा। अब कौन आध्यात्मिक यश खोकर राजनैतिक अपयश गले लगाये ? यदि गांधी 'भगवा' धारण कर बैठता तो अधिक यश कमाता, अधिक श्रद्धा पाता किन्तु उसने देश के पौरुष को जगाने के लिए राजनैतिक 'अपयश' कमाना भी स्वीकार किया। गांधी ने देश की आध्यात्मिकता को राजनैतिक आयाम दिया। शरीर के एक-एक लाल कण को बलवान बनाने वाली स्वस्थता की दिशा में बच्चे से लेकर बूढ़े तक को अभय का प्रत्यक्ष प्रयोग प्रदान किया। ऋषि दयानन्द से समाज को नारा मिला—'जो बोले सो अभय, वैदिक धर्म की

जय'। गांधी ने कहा कि अग्रेजो की पुलिस के सामने सीना तान कर जो बोले—'अग्रेजो भारत छोड़ो'—वो अभय !! जैन व बौद्ध-दर्शन की अहिंसा ने नि:शस्त्रीकरण द्वारा देश को निहत्था किया जब कि गांधी-दर्शन की अहिंसा ने, जिन लोगो मे सशस्त्र क्षात्र तेज की क्षमता नही थी, उन लोगों को अहिंसक क्षात्र तेज की तेजस्विता से अभिभूत किया। जिन आर्थिक-राजनैतिक आयामों की ओर जन-जीवन की शक्ति केन्द्रित नहीं होने के कारण भारत अन्य देशों की तुलना में समाप्त हुआ जा रहा था—उन आयामों की ओर गांधी ने भारत को केन्द्रित किया। God is Truth : Truth is God. कहकर, ईश्वरवादी-अनीश्वरवादी टक्कर को बचा कर आक्रान्ता के सामने सीधी टक्कर लेने के लिए जन-जन को जुझारू बनाकर कर्म सिद्धान्त को सफलता से निभाया।

आज भी एक गम्भीर प्रश्न हमारे सामने खड़ा है ? रिक्तता-शून्यता का बोध कराते हुए हमारे जन-जीवन के सामने यह प्रश्न खड़ा है कि क्या माया के भ्रम और मृत्यु के भय से मुक्त कराने वाली हमारी आध्यात्मिकता हमें धनवान देशों के प्रलोभन के भ्रम और बलवान देशों के आक्रमण के भय से मुक्त करवा सकेगी ? अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, कूटनीतिक और वैज्ञानिक परिवेश में क्या हमारी आध्यात्मिकता हमारी आजादी को जीवित रख सकेगी ? फिर कहीं कोई गजनवी निर्बाध-निविरोध सोमनाथ लूटता-लादता सुरक्षित लौट जाने का दुस्साहस तो नहीं कर बैठेगा ?

यदि हम ईमानदारी से यह चाहते हैं कि फिर कोई गजनवी हमारी आध्यात्मिकता को लूटने-ललकारने का दुस्साहस नहीं करे तो हमें चाहिए कि मनुष्य की वणिक् वृत्ति से ही सही—किन्तु गांधी को तौलकर—हलका हो या भारी—पर अपने पास रख लें, काम आ चुका है, फिर काम आएगा। बेकार नहीं है।

# सत्य की रक्षा

सदियों-सदियों से हमने यही सीखा, समझा और समझाया कि—सत्यमेव जयते ! इस शिक्षण में सीधा संकेत तो यही मिलता है कि सत्य शक्तिशाली है जिसकी विजय होती है क्योंकि विजय का सम्बन्ध शक्ति से जुड़ा है—सबलता से—निर्बलता से नहीं। तब यह कल्पना भी कैसे की जाय कि विजयवान सत्य को रक्षा की जरूरत होती है। उधर दूसरी तरफ प्रत्यक्ष व्यवहार के धरातल पर कुछ और ही देखने-समझने को मिलता है। बच्चे से लेकर बूढ़े तक—दैनिक जीवन में—आपस में एक-दूसरे से कहता है—"सुनो, नजदीक आकर कान में सुनो, कहीं कोई सुन न ले, बाई गॉड, बाई यू, मैंने ऐसा देखा है—अपनी आँख से देखा है, अपने कान से सुना है लेकिन तुम किसी से कहना मत कि मैंने कहा है वरना मैं बुरा बन जाऊँगा, मारा जाऊँगा।" कहना मत, कहना मत कहते-कहते बात तो सब तक पहुँच जाती है किन्तु कहना मत का ब्रेक लगते-लगते बात इतनी घिस जाती है कि उसका रूप धुंधला और विद्रूप हो जाता है। यदि पहले व्यक्ति ने ही हिम्मत के साथ सत्य की स्पष्ट बुलन्द अभिव्यक्ति कर दी होती तो मूल सत्य का स्वरूप विद्रूप नहीं होता। एक तरफ तो जन्म से 'सत्यवद—सत्य बोलो' की जन्म घुट्टी हमें दी जाती है, सत्यवादी हरिश्चन्द्र का आदर्श रखा जाता है—दूसरी तरफ हम सत्य बोल रहे है यह प्रकट न हो जाय ऐसा भय हमें दबोचता है। बस, यही स्पष्ट प्रमाण है कि हमारा सत्य भयभीत है, सत्य असुरक्षित है, उसे रक्षा चाहिए ! तब प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों ? उत्तर सीधा है कि जब तक सामूहिक रूप में—जनसाधारण के स्वभाव में सत्य को स्वीकार करने की, सत्य के सम्मुख नतमस्तक होने की, सत्य का खुला समर्थन करने की प्रवृत्ति जागृत नहीं होगी तब तक सत्य चांडाल के हाथों यों ही बिकता रहेगा, सत्य रक्षा की भीख माँगता रहेगा। अतः सत्य विजयशाली है ऐसी मान्यता खोखली है। सत्य को रक्षा की जरूरत है—यह मनुष्य के चिन्तन का विषय बनना ही चाहिए। सत्य चाहे अपना हो या पराया, सत्य तो सत्य है, उसकी रक्षा, उसका सम्मान होना ही चाहिए ! उसकी सुरक्षा होनी ही चाहिए।

ऐसा शिक्षण हमें नई पीढ़ी को देना ही होगा। अभी तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारी सत्य सम्बन्धी धारणा एकांगी रही। केवल सत्य की महिमा और सत्य-

वादी के कष्टो की गरिमा का गौरव बखान करती रही। युद्धों मे, संघर्षों मे, परीक्षणो मे अन्त मे सत्य की विजय घोषित करने की परम्पराएँ रही हैं किन्तु स्पष्ट रूप से यह घोषणा कभी नही की गई कि असत्य के संघर्ष से ही सत्य उजागर होता है। सत्य मूलतः निर्बल होता है। सत्य को सदैव तथ्य का, कथ्य का और शक्ति के सामर्थ्य का बल चाहिए। शक्तिहीन सत्य ही असत्य सिद्ध होता है। अतः सत्य को अपनी रक्षा के लिए शक्ति की शरण मे जाना ही होगा। अर्थात् सत्य को रक्षा का कवच पहनाना ही होगा अन्यथा असत्य का चतुर खिलाडी (केवल त्रेता युग में ही नही बल्कि हर युग मे, हर क्षण में)—असत्य का पहलवान खिलाडी—सत्य के नादान-असावधान अस्तित्व की लक्ष्मण रेखा से बाहर लाकर, बगल मे दबोच कर खिलखिलाता हुआ, खेलता हुआ उड़ जाएगा। और सत्य? सत्य तो अन्तिम विजय की इन्तजारी मे चौदह वर्ष तक तड़पता रहेगा, कसकता रहेगा, रक्षा की दर-दर भीख माँगता रहेगा।

यदि राम-लक्ष्मण ने विश्वामित्र के सत्य की रक्षा न की होती, उधर वानर सेना ने राम-लक्ष्मण के सत्य की रक्षा न की होती तो सत्य की अन्तिम विजय की घडी इतिहास मे न आती। अतः जब तक गाड़ी वाले—ताँगे वाले से लेकर एम्बेसेडर कार वाले तक; बच्चे से लेकर बूढे तक; घर वाले से लेकर बाहर वाले तक; सत्य की रक्षा का भाव जब तक रोम-रोम मे व्याप्त नही हो जाता तब तक सत्यमेव जयते सार्थक सुलभ नही हो सकता।

इसीलिए हमें अपने चिन्तन और शिक्षण की दिशा को बदलना होगा। सत्य को असत्य के घेराव मे से—चक्रव्यूह मे से पहचान कर, बचाकर, किस तरह सुरक्षित निकाल लिया जाए—यह प्रशिक्षण हमारे दैनिक जीवन के शिक्षण का अग हमें बनाना होगा।

सत्य की रक्षा के लिए हमे तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास करना होगा। समूह मनोविज्ञान की जानकारी पर भी हमे जोर देना होगा। उधर, वाणी का सयम न रखने के कारण भी हम सत्य को निरर्थक कष्टों के घेराव मे घिरने के लिए विवश कर दिया करते है। इसलिए सत्य के सुरक्षात्मक कदम (Defence) के रूप मे हमे कुछ निर्देशों का पालन भी करना होगा, जैसे—सत्य की अनावश्यक अभिव्यक्ति, तथ्य की अतिरंजित प्रस्तुति अथवा तथ्यो के प्रति मौन-उदासीन अप्रस्तुति और असत्य मे आनन्दरस लेने की वृत्ति—इन चार वृत्तियों के चौराहे पर यदि सत्य को सम्हाला जाय तो सत्य की रक्षा हो सकती है। इसके अलावा Consideration for others एक ऐसा अमृत तत्व है जो हमे सत्य की पहचान और सत्य की रक्षा के लिए जागरूक व तत्पर रखता है। अतः Bank Balance, Bungalow and Bangles (बैंक, बगला और बंगड़ी) के साथ-साथ Consideration for others की विरासत नही मिलने के कारण सत्य अपना-अपना

तो रह गया, पराये का सत्य खो गया।

Truth may languish but can not perish—इसकी 'टोन' को—ध्वनि को—बदल कर इसे Passive voice में नई पीढ़ी के सामने रखना होगा कि Truth must not be languished and must never be perished at all at any cost जिससे कि अन्य व्यक्ति second and third person भी सत्य की रक्षा के लिए जिम्मेदार बने ! जब सत्य की रक्षा के प्रति ऐसा वातावरण हमारे चारों ओर तैयार होगा तब उस वातावरण में फिर झूठे लांछन लगाना, छल-प्रपंच करना, जानबूझ कर किसी को हानि पहुँचाना, ईर्ष्याचित्त होकर सत्कर्म, सद्गुण और सद्वृत्तियों का विरोध करना इत्यादि प्रवृत्तियाँ जो मनुष्य के आन्तरिक जंगलीपन की निशानियाँ होती हैं—ऐसी प्रवृत्तियाँ—फिर, निर्बल हो जाएँगी। सत्य की रक्षा का भाव प्रबल हो जाएगा। तब सत्य की विजय शुरू में ही होने का सुख मिलेगा अन्त तक प्रतीक्षा करने का दुःख नहीं मिलेगा।

# असत्य को ललकार

समाज मे यदि हम चाहते है कि सत्य चाडाल के हाथो न विके तो हमे महापुरुषो की ठेकेदारी की सीमाओ से निकाल कर सत्य का विकेन्द्रीकरण करना होगा। सत्य की पहचान साधारण जन-जीवन मे जागृत करनी होगी। उसके बाद सत्य की रक्षा करने की तत्परता और उसकी रुचि जगानी होगी। किन्तु यह सब, तब तक निरर्थक होगा जब तक कि असत्य को ललकार देने का पौरुष जन-जन मे न जगा दिया जाए।

मनुष्य का इतिहास प्रमाण है कि साधारण तौर पर दैनिक जीवन के स्तर पर केवल सत्य को स्वीकार किया गया है किन्तु असत्य को अस्वीकार करके ललकार देने की हिम्मत का जहाँ काम पड़ा कि सब सज्जनता की चादर ओढ-कर कायरता को छिपाने का असफल प्रयास करते है। जब चिड़िया खेत चुग जाती है, जब पानी सिर से ऊपर बह जाता है तब असत्य को ललकार देने के लिए विशेष स्तर पर शक्ति, वीरता और शौर्य का सगठन किया जाता है किन्तु साधारण स्तर पर तो, 'भगवान देखेगा', 'अपने आप फल मिलेगा'—ऐसा कह कर हम अपना सत्य दुबका कर स्वयं भी दुबक जाते हैं और यह भूल जाते है कि इस प्रकार हम असत्य को ही जीवित और पोषित करते है। पाप का घडा भर जाता है—तब भगवान उसे फोड़ते है—ऐसी धारणा के कारण पाप के घड़े के भरने के इन्तजार मे निष्क्रिय सज्जनो की जमात, सक्रिय दुर्जनो की दुर्जनता के सम्मुख सदैव थरथराती हुई, दुबकती-सिसकती आई है। यही कारण है कि एक अकेला सिकन्दर राष्ट्र के राष्ट्र रौंदता चला गया; एक नेपोलियन बोनापार्ट विश्व-विजेता बनने की धुन मे अकेला सारी दुनिया को हैरान-परेशान कर गया। एक अकेला दुर्जन पूरे मोहल्ले मे सीना तान कर चलता है और उस मोहल्ले के एक हजार सज्जन उस पर उँगली उठाने की हिम्मत नही कर सकते; एक अकेला सीनाजोर दुर्जन पचास सज्जनों की लाइन तोड़ कर टिकट खरीद कर चला जाता है; एक अकेला दुर्जन मैनेजर किसी सोसाइटी (चिट फड) के हजार सज्जन सदस्यो के पैसे हजम करके डकार लेता है; एक अकेला डाकू गाँव का गाँव तबाह कर जाता है, एक अकेला लुटेरा गाडी की गाड़ी लूट ले जाता है और एक अकेला गजनवी सोमनाथ लूटता हुआ सुरक्षित गजनी लौट जाता है उस

समय ये सब पचास, सौ, हजार और लाख की सख्या मे सत्य की अन्तिम विजय की इन्तजार मे, पाप का घड़ा भर जाने की इन्तजार मे केवल यही कह कर शान्त-सन्तुष्ट हो जाते हैं कि करेगा सो भरेगा—भगवान देखेगा। ऐसे ही निष्क्रिय सज्जनों के निर्बल सत्य के कारण दुर्जनो के सक्रिय असत्य के खेमे में अन्याय, अनीति, अनाचार, उत्पीडन और भ्रष्टाचार आदि सब पलते है-पनपते है।

लंका और कुरुक्षेत्र की कथाओं की व्यथाओ के व्यर्थ विवेचन से सत्य की विजय नही हुआ करती। साथ-ही-साथ यह आवश्यक न समझें कि सत्य की विजय हो ही जाएगी। अत: चिन्तन के क्षणो मे हमे अपनी नई पीढ़ी को एक नई दिशा देनी होगी। हमे अपनी सन्तानों मे कूट-कूट कर भरना होगा कि जीवन में सत्य को विजय मिले या न मिले किन्तु पाप का घड़ा भरने की इन्तजारी में, किसी धर्म अवतार के अवतरित होने के इन्तजार मे असत्य को पोषण करने के बजाय पहले ही क्षण में असत्य को हिम्मत के साथ अस्वीकार करने का जज्बा लेकर हमें जीना होगा।

जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान प्रथम कदम पर प्राप्त नही होता—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या—इस असत्य जगत् के घेरे में से ही सत्य ब्रह्म को खोजना पड़ता है उसी प्रकार सत्य अपने मूल शुद्ध रूप मे कही पड़ा नही मिलता, उसे तो असत्य के चक्रव्यूह, असत्य के घेराव मे से ही पहचानना और बचाकर निकालना पड़ता है। इसीलिए असत्य को अस्वीकार करके उसको ललकार देकर फिर सत्य को समझ-बूझ कर स्वीकार करना ही जीवन की साधना है—सफलता है।

जब कोई व्यक्ति या समाज असत्य को स्वीकार करने और ललकार देने की शिक्षा से वचित रह जाता है तो वह असत्य तथा अनीति, अन्याय, अनाचार यानि असत्य के ही रिश्तेदारो के सामने झुकता चला जाता है; समझौता करता चला जाता है। भारत की सैंकड़ों वर्षों की गुलामी का इतिहास इसी कायरतापूर्ण समन्वय और समझौते का इतिहास है। इसलिए सबसे पहले असत्य को खुली हिम्मत के साथ, दबंगता के साथ अस्वीकार करने की मानसिकता मजबूत की जानी चाहिए। यदि यह हिम्मत बन गई तो वह व्यक्ति चाहे बच्चा हो या बूढ़ा, अबला हो या दुबला किन्तु वह असत्य को अस्वीकार करता हुआ ललकार देने की दिशा मे अपने आप आगे बढता जाएगा। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार कष्ट सहन करने की शक्ति को—क्षमता को—बढाता हुआ ललकारने के तौर-तरीके खोजता चला जाएगा। हिजरत; अनशन और अडने से लेकर भिड़ने तक असत्य का मुकाबला करने के अनेक विधि-विधान ढूंढता चला जाएगा। सत्य की रक्षा के लिए जौहर कर लेगा किन्तु असत्य को उसका शिकार मिल जाने का मानसिक सुख नही लेने देगा। असत्य को अस्वीकार करके ललकारने की दिशा में दधीचि के हड्डी-दान से लेकर विनोबा के ग्राम-दान तक मनुष्य का चिन्तन अपने नये-से-नये आयाम पेश करता चला जाएगा।

# शिखण्डी की ओट में अर्जुन के तीर

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् स्वर्गीय सुख-सम्पन्न, राम-राज्य की आशाओं का खून स्वतंत्रता के पुजारियों के द्वारा ही जिस प्रकार किया गया है वह किसी से छिपा हुआ नहीं है। भारत का एक-एक कार्य-विभाग अपनी-अपनी निराली ही अव्यवस्था, शिथिलता, कर्तव्य मूढ़ता और भ्रष्टाचारिता को लिये हुए भारत की तथाकथित उन्नति, प्रगति और विकास का बिगुल बजा रहा है। आत्म-प्रवंचना और करोड़ों भारतवासियों के जीवन की विडम्बना का कैसा लज्जास्पद, हास्यास्पद और करुणाजनक दृश्य है। ऐसे समय में भारत का शिक्षा-विभाग उसके 'निराले' स्वरों से बेसुरा कैसे हो सकता है ? यह विभाग भी अपने कार्यालयों, शिक्षणालयों, शिक्षकों और छात्रों के माध्यम से अपने ही ढंग का तथाकथित विकास का बिगुल बजा रहा है।

हम अभी कुछ क्षणों के लिए अध्यापकों का तार छेड़ कर देखते हैं कि उसका स्वर स्वयं कितना शिथिल है और उसका वादक कहाँ तक उत्तरदायी है ! आज का अध्यापक विशेषतः प्राइमरी, मिडिल, हाई और हायर सेकण्डरी स्कूलों का अध्यापक (उर्फ मास्टर जी) समाज की नजरों में एक उपेक्षित, तुच्छ और श्रद्धा-हीन पात्र है। इनमें भी प्राइमरी का अध्यापक तो दीन, हीन और करुणा का पात्र है। उसका कार्य तो किसी की आँखों में जँचता ही नहीं।

अध्यापक, छात्र, पठन-पाठन सामग्री तथा अन्य साधन व सुविधाएँ, प्राइवेट संस्थाओं के अपने ही ढंग के अनाचार, तो सरकारी 'इन्सपेक्टोरेट तथा डायरेक्टोरेट' की अपनी ही तरह की धांधली इत्यादि अनेक दृष्टिकोणों से सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जितना धन, परिश्रम और ध्यान शिक्षा क्षेत्र की ओर केन्द्रित करना चाहिए था उतना नहीं किया गया। उपर्युक्त अनेकानेक समस्याओं के समष्टि प्रभाव के कारण अध्यापकों की जो और जैसी भी वर्तमान दशा है उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से भारत के शिक्षा मंत्रालय पर है। पंच-वर्षीय योजनाओं में अरबों रुपया पानी के बाँध बनाने में लगाया गया किन्तु भारत का वास्तविक बाँध—उसकी सन्तानों—का निर्माण करने के लिए उतने ही रुपयों का सही तरीके से शिक्षा विभाग पर व्यय किया जाता तो परिणाम निराशाजनक नहीं जाता। यदि आगामी 15-20 योजनाओं तक भी भाखड़ा बाँध न बनता तो कदाचित भारत की तथाकथित उन्नति न होती तो अवनति भी

न होती किन्तु अभी तक की योजनाओ मे ही शिक्षा विभाग पर समुचित धन और ध्यान केन्द्रित करके बाँध नही बनाने के कारण भारत की कम-से-कम तीन पीढ़ी का तो सत्यानाश हो चुका है जिसका ज्वलन्त प्रमाण है आज की दसवी और बारहवीं कक्षा का विद्यार्थी जिसे न माया मिली है, न राम। वह एक ऐसा मूक पुतला निर्मित हुआ है जो न तो सम-सामयिक राष्ट्रीय व सामाजिक समस्याओं के प्रति सुलझा हुआ दृष्टिकोण रख सकता है और न शुद्ध व स्पष्ट भाषा मे अपने विचार लिख अथवा बोलकर व्यक्त कर सकता है। 'एकै साधै सब सधै, सब साधै सब जाय' का स्पष्ट नमूना देखिये—बहुउद्देश्यीय योजना की करुणा-जनक असफलता। तथाकथित उन्नति, वास्तविक अवनति। अभी का ग्रेजुएट और कुछ ही वर्षों पूर्व का मैट्रिक्युलेट—तुलना कर लीजिये और विचार लीजिये कि पहली योजना मे ही शिक्षा क्षेत्र पर समयानुकुल और समुचित धन तथा ध्यान कितना केन्द्रित करना चाहिए था?

अस्तु, अध्यापको की वर्तमान दशा का सर्वोपरि और मूलभूत कारण बताया जाता है उनका अल्प वेतन! सबका ध्यान इसी तथ्य पर केन्द्रित हो चुका है कि यदि अध्यापको का वेतन बढा दिया जायेगा तो सब समस्या हल हो जायेगी। उनके सामाजिक सम्मान की जो बड़ी भारी समस्या है वह भी हल हो जायेगी क्योंकि वह अपने रहन-सहन के उच्च स्तर का निर्माण कर लेगा। किन्तु, क्या कभी हमने अध्यापकों की समस्या का कोई आन्तरिक पहलू भी टटोला है? क्या हमने यह भी सोचा है कि प्रशासनिक अव्यवस्था, उपेक्षा और आर्थिक हानि ही अध्यापक का सामाजिक-गौरव नष्ट नही करती अपितु इसके मूल मे एक बड़ा भारी तथ्य है उनकी आत्मिक और सात्विक मनोवृत्तियों का अभाव, जिसकी पूर्ति न सरकार कर सकती है न जनता। अन्तस् की सात्विक हीनता ने अध्यापको के सम्मान, छात्रो की श्रद्धा तथा अध्यापन-कार्य की पवित्रता पर कुठाराघात किया है और प्रश्नसूचक चिह्न लगाया है जिसके उत्तरदायी स्वयं अध्यापक है और अन्य कोई नहीं। जब तक इस आन्तरिक समस्या का निदान नही होता; जब तक अध्यापक वर्ग वर्तमान काल के तथाकथित यथार्थवाद के भँवर मे न फँसकर अपने कार्य की पवित्रता का अनुभव नही करता तब तक आप भले ही उसका वेतन बढा, दें उसकी अनेक सुविधाएँ बढ़ा दें परन्तु अध्यापन क्षेत्र का विष, अध्यापन जीवन की विडम्बना और छात्रों के जीवन से खिलवाड़—सब यथास्थान रहेंगे।

आप सब मेरे इस कथन का आधार जानने की इच्छा कर रहे होगे। आपकी यह इच्छा स्वाभाविक ही है। अच्छा, देखिये, पिछले वर्ष एक 'शिक्षक प्रशिक्षण शिविर' मे सम्मिलित होने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। तीन सप्ताह की अवधि तक लगभग 60-65 अध्यापको ने विभिन्न जिलो से आकर सामूहिक जीवन-यापन किया। एक से एक बढकर 'डिग्री' प्राप्त विद्वान् वहाँ उपस्थित थे। यह

आशा रखना स्वाभाविक है कि ऐसा विद्वान् अध्यापक वर्ग कहीं एकत्र हुआ हो तो उस मडली मे राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक विषयो पर वार्तालाप हो अथवा सभ्य और सुशील मनोविनोद होता हो किन्तु, मेरे आश्चर्य के साथ-साथ खेद की भी सीमा न रही जब मैंने यह देखा कि तनिक शिक्षकों को छोड़कर अधिकाश शिक्षक जब भी परस्पर मंडली बनाकर बैठते थे तभी उनमे अत्यन्त अश्लील, अभद्र और कुत्सित यौन-सम्बन्धी वार्तालाप का प्राचुर्य होता था। माँ-बहनो की गालियाँ और आगिक भाव-भगिमाओ का अभद्र प्रदर्शन उनके अन्तःकरण को आनद प्रदान करता था। वे वाग्विलास नही, वाग्व्यभिचार करते थे। यह निष्कर्ष निकालना मेरे लिए कठिन न रहा कि ये अध्यापक जिस-जिस क्षेत्र मे अध्यापन कार्य करते है वहाँ ऐसा ही वातावरण बनाये रखते हैं। शर्म की बात तो तब और भी अधिक होती है; शिक्षा क्षेत्र के मान, अध्यापकों की शान और भारत के अरमान को झटका तब और भी अधिक लगता है जब यही 'निर्माता' अध्यापक अपने विद्यार्थियों के साथ भी वैसा ही व्यवहार निस्संकोच करते हैं। कैसी विडम्बना है कि जिन अध्यापकों से विद्यार्थी शब्द का सदुपयोग करना सीखता है, उन्ही अध्यापकों से वह विद्यार्थी वाग्व्यभिचार के द्वारा शब्द का अश्लील द्वयअर्थक दुरुपयोग करना भी सीखता है। यह मानसिक हीनता क्या अध्यापकों के सामाजिक सम्मान और छात्रो की श्रद्धा-भावना पर विपरीत प्रभाव नही डालती ? इसके लिए अध्यापक स्वय उत्तरदायी है या सरकार का कम वेतन और जनता की उपेक्षा ? वेतन बढ़ाने मे अध्यापकों के धन का दिवालियापन तो मिट सकेगा किन्तु उन अध्यापकों का क्या होगा जिनकी नैतिकता का दिवाला पिट चुका है। यदि सरकार एक-एक अध्यापक को हजारों रुपया वेतन भी दे दे तब भी इस नैतिकता की, शुभ आचरण की क्षतिपूर्ति नही हो सकती। उसकी क्षतिपूर्ति के लिए अध्यापक स्वय उत्तरदायी है। उसे अपनी आन्तरिक सात्विकता का आह्वान करना होगा। अपने आत्मिक धन की वृद्धि करनी होगी।

समाज मे, छात्रों मे और अधिकारियो मे अध्यापको का सम्मान घटाने वाली; अध्यापक के श्वेत कार्य पर कलंक का टीका लगाने वाली दूसरी विभीषिका—'ट्यूशन' ! ट्यूशन करना अध्यापक के लिए बुरा नही है। बल्कि, मेरे विचार से तो बिना ट्यूशन का अध्यापक बिना पूँछ की गाय है। अन्त मे पान और सुपारी मिले बिना बढ़िया से बढ़िया पकवानों के प्रीति-भोज से भी पूर्ण रसानुभूति नही हो सकती; उसी प्रकार ट्यूशन के बिना अध्यापन-कार्य की पूर्ण रसानुभूति नही हो सकती। इस तथ्य का विश्लेषण अभी करना तो विषयान्तर हो जायेगा। मैं तो केवल यह बतलाना चाहता हूँ कि यही शुभ फलदायिनी ट्यूशन कलंकिनी और विभीषिका तब बन जाती है जब अध्यापक अपनी आत्मा को प्रवचना

देकर अपनी ईमानदारी, ईश्वर प्रदत्त अपना नैतिक बल, अपना समूचा पवित्र अध्यापन कार्य, अपना स्वाभिमान और अपना गौरव कुछ रुपयों के बदले में ट्यूशन करवाने वाले मालिक के कदमों में बिखेर देता है। और फिर उस मालिक की खातिर वह एक-एक परीक्षक से एक-एक 'नम्बर' की भीख माँगता फिरता है, सिफारिशें करता फिरता है, अपनी पवित्र जिह्वा पर (जिससे वह इन्सान को ज्ञान देता है) अनैतिक भावाभिव्यक्ति का काला रंग चढ़ाता है। छात्र को इस प्रकार 'पास' करवा के अध्यापक सोचता है कि उस छात्र और उसके परियोजनों की दृष्टि में वह सम्मानित हुआ, विश्वस्त हुआ। बस, यही उसका भ्रम है। भ्रम क्यों है? स्वयं सात्विक दृष्टि से विचारिये, आपका हृदय स्वयं तर्क प्रस्तुत कर देगा।

कुछ अध्यापक स्वयं आर्थिक दृष्टि से समर्थ होते है, सम्पन्न होते हैं तथा उनके परिजन भी अच्छे और ऊँचे पदों पर कार्य करते है, किन्तु उनकी आत्मिक हीनता का उदाहरण जब प्राप्त होता है तब तो रही-सही श्रद्धा भी समाप्त होती हुई दिखाई देती है। ऐसे ही एक सुसम्पन्न अध्यापक ने एक विद्यार्थी को प्रश्न-पत्र बतलाये, परीक्षकों से भीख माँग-माँग कर उसके लिए अंक लिये और उस विद्यार्थी को अपनी कक्षा में प्रथम उत्तीर्ण किया। भेंट स्वरूप मालिक की तरफ से भी सुनिश्चित् साइकिल प्राप्त हुई तथा कुछ नकद 'हरी पत्तियाँ' तो थी ही क्योंकि आसामी तगड़ा था। किन्तु, बात का छिपा रहना भी स्वाभाविक नहीं था। और'''वह सम्पन्न अध्यापक अपने समाज में इतनी आलोचना तथा उपेक्षा का पात्र बना कि बस, पूछिये मत। एक-एक विद्यार्थी और एक-एक संरक्षक के मुँह पर उसका 'गुणगान' हो रहा था। अब बताइये, उस अध्यापक ने स्वतः अपने अध्यापकीय गौरव और सामाजिक सम्मान पर आघात पहुँचाया या नहीं? समाज की गुण-ग्राहकता के अभाव और सरकार के अल्प वेतन को यहाँ तनिक भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। विशेषता यह थी कि उपर्युक्त अध्यापक महोदय अपनी प्रमाणिक योग्यता के अनुकूल पूर्ण 'ग्रेड' प्राप्त कर रहे थे फिर भी भेंट स्वरूप तयशुदा साईकिल का लालच ले डूबा। आवश्यकता है उनकी आत्मिक जागृति की।

इन सबके अतिरिक्त अध्यापकों के प्रति सामाजिक श्रद्धा और विश्वास को तब ठेस पहुँचती है जब पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस ट्यूशन करने वाले दो अध्यापक स्वयं पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या और मनोमालिन्य के कारण गरजते हुए एक-दूसरे के इच्छित छात्रों पर बरस पड़ते हैं। बेचारे छात्र! दो पाटों के बीच पीस दिये जाते हैं। उनकी एक-एक साल की जिन्दगी के साथ खिलवाड़ किया जाता है। उनमें से एक शिक्षक कहता है—'मेरी भैंस को तूने क्यों मारा?' तब दूसरा भी परावर्तित किरणों की तरह शब्दों को परावर्तित कर देता है—'मेरी भैंस को तूने

सुविधा दे भी देगी तो क्या हुआ, ये चरवाहे आत्मिक सुख से तो फिर भी वंचित रह ही जाएँगे। आत्मिक सुख के अभाव में इनका पारस्परिक द्वेष और मनोमालिन्य दूर नही हो सकता। यदि अध्यापको का वेतन खूब बढ़ा दिया जाए तो उनकी ट्यूशनें कम कदाचित् हो जायें (?) किन्तु, अपने अयोग्य और इच्छित विद्यार्थी के लिए नम्बरों की भीख माँगने तथा देने वाला गौरवहीन कार्य तो फिर भी अन्दर-ही-अन्दर बना रहेगा। जब तक अध्यापक अपना स्वयं का आत्म-गौरव जागृत नही करेगा तब तक यह सिफारिशों की समस्या, परीक्षा का उद्देश्य ही स्वयं परीक्षको द्वारा नष्ट कर देने वाली समस्या, दूर नही हो सकती।

एक उच्च माध्यमिक विद्यालय की नवी कक्षा के किसी एक विभाग में हिन्दी का विषय वहाँ के प्रधानाध्यापक स्वयं पढ़ाते थे। परीक्षक महोदय ने परीक्षा के अवसर पर उस कक्षा के 36 छात्रो मे से 28 छात्र इसलिए फेल कर दिए क्योंकि दूसरे स्कूलो से आने वाले छात्रो की प्रवेश सम्बन्धी नीति मे वे परस्पर असहमत थे। ये तो है विद्यालयो मे द्वेषाग्नि की लपटें, किन्तु महाविद्यालयों में भी ऐसी ही महा लपटें जलती हैं। वहाँ पर भी विज्ञान, संगीत आदि की प्रायोगिक परीक्षाओं मे पारस्परिक मनोमालिन्य तथा 'फेवरेटिज्म' को लेकर द्वेष तथा प्रतिशोध की विद्युत् जिस प्रकार से कड़कती है और गिरती है उसके अनुभव से प्रत्येक भुक्तभोगी परिचित हैं।

धन्य हो! राष्ट्र के निर्माता अध्यापक 'अर्जुन' धन्य हो!! सरकार के अल्प वेतन और अव्यवस्था रूपी शिखण्डी की ओट में अपनी मानवीय दुर्बलताओ के विषैले तीर तब तक छोड़ते जाना जब तक कि यह राष्ट्र 'भीष्म' धराशायी न हो जाए। और फिर यही कोसते रहना कि समाज अध्यापको का आदर नही करता।

# पर्व और त्योहार तथा राष्ट्रीय एकता

राष्ट्रीय एकता, भावनात्मक एकता, देश की अखण्डता आदि कई शब्दों द्वारा जिस दिशा में आजादी के बाद आज तक समूचे भारत की चेतना को केन्द्रित करते समय, तरह-तरह के प्रयास करते समय जिस रिक्तता और आवश्यकता की अनुभूति हम करते हैं, वैसी आवश्यकता जिन्हें तनिक भी महसूस नहीं होती—ऐसे भी अनेक राष्ट्र इसी धरती पर हैं; कलेवर में, आकार-प्रकार में हमारे भारत से बहुत छोटे भी है किन्तु राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय चारित्र्य, राष्ट्रीय अखण्डता के धनी और प्रकाशस्तम्भ माने जाते हैं। क्या ऐसे राष्ट्रों को धर्म, जाति, रंग, भाषा, प्रान्त आदि की विभिन्नताओं ने परेशान नहीं किया? क्या उन राष्ट्रों में ये विभिन्नताएँ आज भी अपना अस्तित्व बनाये हुए भी सुख और विकास की साँस नहीं ले रहे हैं? एक प्रश्न और उभरता है कि क्या कुछ ऐसे राष्ट्र नहीं हैं जहाँ एक ही धर्म, जाति, एक ही भाषा-भूषा वाले लोगों का सम्पूर्ण प्रभुत्व है किन्तु फिर भी कुछ कारण ऐसे हैं कि वे एक जैसे होते हुए भी खून-खराबा, गोली-फाँसी और रोमांचकारी हिंसा के शिकार बने। हमारे भारत में राष्ट्रीय एकता खतरे में डालकर जो हिंसा, दंगा-फसाद आज भी देखने को मिलता है, क्या वैसा कुछ उन राष्ट्रों में भी देखने को नहीं मिलता जहाँ एकसा-धर्म एक ही जाति और एक ही भाषा का प्रभुत्व है?

इन प्रश्नों को प्रमुख रूप से उभारने का तुलनात्मक दृष्टिकोण मैंने इसलिए पेश किया है कि हम, राष्ट्रीय एकता की समस्या जो केवल भारत में ही रही है—ऐसा सीमित नहीं मान लें और केवल एक धर्म, वर्ग, भाषा का प्रभुत्व हो जाने मात्र से समस्या फिर रहेगी ही नहीं—ऐसा भी नहीं मान लें! हाँ, एक बात जरूर है कि भारत की राष्ट्रीय एकता की समस्याओं पर विचार करते समय कुछ बुनियादी बातें जो केवल भारत से ही सम्बन्धित हैं उन्हें तो भारत की दृष्टि से ही देखना होगा।

इस प्रकार यदि सन्तुलित दृष्टि से हम विचार करें और उस विचार से निकलने वाले निर्णय पर प्रत्यक्ष व्यवहार करें तब तो कोई प्रभाव दिखाई देगा अन्यथा कबीर के एकेश्वरवाद से लेकर गांधी के सर्वधर्म समभाव सहित संविधान के धर्म-निरपेक्षतावाद तक इतना प्रयास, इतना त्याग और बलिदान

कर लेने पर भी जैसे आज तक हम राष्ट्रीय एकता, भावनात्मक एकता का अमृत-पान नही कर सके वैसे भविष्य मे भी अमृतपान नही कर सकेंगे। केवल लेख, भाषण-वार्ता, चर्चा और प्रवचन क्या कर लेंगे जब तक कि दिल-दिमाग साफ नहीं होंगे।

"इन्साफ किस तरह हो दिल साफ है नही।
दिल साफ किस तरह हो इन्साफ है नही।"

तब ऐसे दिल-साफ और इन्साफ के द्वन्द्व मे जीवन की गाडी छूट जाएगी या फिर हम ही टूट कर बिखर जाएँगे लेकिन मंजिल तो किसी भी सूरत में नही मिलेगी !!

अतः हमारे भारत के सन्दर्भों मे हमारी राष्ट्रीय एकता, भावनात्मक एकता के लिए इलाज सोचते समय हमे यह समझना ही होगा कि हमारा इलाज भी भावनात्मक ही हो सकेगा। राजनैतिक, कूटनीतिक इलाज क्षणिक होंगे किन्तु स्थायी नही ! आखिर हमे सोचना ही होगा कि राष्ट्रीय एकता, भावनात्मक एकता का महान् महल हम बालू की बुनियाद पर खड़ा करना चाहते हैं, या व्यक्ति की बुनियाद पर; भारत का व्यक्ति, भारत का मानस भावनात्मक है चाहे वह मूल भारतवासी है, चाहे धर्मान्तरित है, चाहे हरिजन है या गिरिजन है, भारत का व्यक्ति भावनात्मक है और भावना की जड़ें राजनीति, कूटनीति, अर्थनीति में नही मिलती। भावना की जड़े गहरी-गहरी मिलती है समाज और सामाजिक परिवेश मे। समाजशास्त्रियों ने व्यक्ति को भावनात्मक बनाये रखने के लिए पर्व और त्योहारो का बड़ा जबरदस्त मनोवैज्ञानिक ताना-बाना बुना है। इसलिए यदि हमे राष्ट्रीय एकता, भावात्मक एकता के व्यक्ति को तलाशना है तो पहले उसकी इसी भावनात्मक भूमि पर तराशना होगा जिसके लिए समाजशास्त्रियों ने पर्व और त्यौहारों को उपयुक्त माध्यम और आधार बनाया है।

एक छोटा-सा उदाहरण रखता हूँ। जैन समाज में क्षमा पर्व जिसे खतत-खावणा कहते हैं, हर वर्ष आता है। सनातनी समाज मे होली-दीवाली के बाद राम, राम हर वर्ष दो बार मनाया जाता है, मुस्लिम समाज मे ईद के दिन वाले मिल-मिल कर मुबारक बाद देने की परम्परा है। ईसाई समाज में तो क्षमा और कृतज्ञता के भाव का इतना अधिक महत्त्व है कि दैनिक जीवन में Thank you और Sorry शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ बाइबिल का निर्देश रोजाना ही क्षमा पर्व मनवाना चाहता है जिसका मूल भाव यह है कि अरे, मनुष्य ! अपनी क्रोध; प्रतिशोध और अनबोली मानसिक स्थिति मे दिन समाप्त मत होने दे। सूर्यास्त से पूर्व जाकर अपने सह-मानव से क्षमा माँग ले किन्तु तनाव की स्थिति में सूर्यास्त मत होने दे ! भला, कितनी गजब की भावात्मकएकता की बुनियाद है ये शब्दावली ! ये पर्व और त्योहार तथा बड़े दिन की बड़ी भावनाएँ जब हमारी रोज़ाना की जिन्दगी में व्यक्ति-व्यक्ति के स्तर पर एकता, प्रेम और भाईचारे के प्रत्यक्ष

व्यवहार को गूंथती है तब न जाने क्यों राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र बिखरा हुआ नजर आता है ? जरूर हमारे सामाजिक जीवन के इन पवित्र पर्वों को हमने सच्चे दिल से स्वीकार ही नही किया। यदि कही बड़े ने प्यार भरा हाथ कन्धे पर रख कर छोटे को पुचकारा है तो छोटा पसीजने के बजाय ललकारने लगा और कही छोटे ने बड़े को सिर झुकाया तो बड़ा पिघलने के बजाय उबलता ही चला गया। क्या यही स्थिति हमें घर-परिवार से लेकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक देखने को नही मिलती ? जरूर, इन पर्वो-त्योहारो को हमने तहे-दिल की सच्चाई और ईमानदारी से नही मनाया। खैर कोई बात नही, आओ, हम मिल-जुल कर एक शुरुआत फिर नये सिरे से करें! अब जिस दिन राम, राम, बड़ा दिन, ईद या क्षमा पर्व आवे उस दिन से पहले हम तीन सूचियाँ बनावें बिना झिझक और बिना अहंकार के! पहली सूची घर-परिवार और मोहल्ले में से; दूसरी सूची कार्यक्षेत्र के बाहरी दायरे मे से; तीसरी सूची अपने धर्म जाति से अलग धर्म जाति वालो मे से! तीनो सूचियों में उन लोगों के नाम सोच-विचार कर लिखें जिनसे हमारे अहंकार टकरा रहे हैं। जिनसे हमारे अनबोले व्यवहार चल रहे हैं। रूठे को मनाये नही और फटे को सिलाये नही तो जीवन मे काम नही चल सकता। बात छोटी-छोटी-सी लगती है लेकिन यदि वास्तव में छोटी ही है तो अभी तक हमने कर क्यों नही ली और यदि यह बात आसान नही है तो फिर छोटी सी कहकर उपेक्षा क्यो करें ? तो करके देखिए किइस छोटे किन्तु गम्भीरप्रस्ताव मे व्यक्ति से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक राष्ट्रीय एकता और भावनात्मक एकता की बुनियाद कितनी जबरदस्त झलक रही है। ऐसी सूची बनाकर हम एक सामूहिक अभियान चलाएँ और उसी सूची के अनुसार जितने व्यक्तियो से भावनात्मक एकता के तार हम जोड सकते हैं, जोड़ें और उस दिन के सूर्यास्त को मंगल प्रभात के रूप मे देखे ! वह राष्ट्रीय एकता का मगल सूत्र होगा। ऐसा हर क्षमापर्व, रक्षाबन्धन, ईद, होली और दीवाली तथा बड़े दिन के अवसर पर हम सब सामूहिक रूप मे करे तो हमारी भावनात्मक एकता, राष्ट्रीय एकता सही अर्थो मे दिन-दूनी रात-चौगुनी बढेगी, बढती ही जाएगी।

# छात्र-असंतोष : कारण और निवारण

शिक्षा, शाला और शिक्षक की त्रिवेणी मे स्नान करता हुआ छात्र (नई पीढ़ी) शीतलता स्निग्धता और जीवन की उपलब्धि का सुख-सन्तोष अनुभव करें —अभिव्यक्त करे तो यह शिक्षा का सार्वजनीन, सार्वकालिक व सार्वभौतिक लक्ष्य माना जाएगा जिसमे शाला और शिक्षक का स्वरूप घरेलू, गुरुकुल या आधुनिक विद्यालय-विश्वविद्यालय आदि किसी भी प्रकार का युगानुकूल भले ही क्यो न हो, किन्तु ठीक इसके विपरीत, यदि किसी भी परिवार, समाज या राष्ट्र की नई पीढ़ी आक्रोश, असन्तोष और जीवन की नकारात्मक-ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को अनुशासनहीनता की चादर मे लपेटकर प्रस्तुत करे तो प्रस्तुत समस्या मे छात्रों को दोष देने के विचार और विचारको से मेरा दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न है क्योकि छात्र को नई पीढ़ी के विद्यार्थी अथवा बीस-बाईस वर्ष की आयु तक की सन्तान को मैं कोई पूर्णकृतित्व या व्यक्तित्व स्वीकार करने के लिए तैयार नही हूँ जब तक कि निर्माण की कसौटियों पर वह खरा न उतरा हो। छात्र शब्द से जिस संज्ञा का सम्बोधन हो रहा है वह एक शक्ति अवश्य है किन्तु मैं उसे 'अडर प्रोडक्शन' और 'अंडर प्रोटेक्शन' मानता हूँ। अतः छात्र क्या करते हैं—यह बात तथा देश-विदेश मे दिखाई देने वाली छात्र-गतिविधियाँ अपने-आप मे मूल समस्या नही हैं। मूल समस्या और उसका समाधान 'प्रोड्यूसर' और 'जेनरेटर' मे खोजना होगा, 'जेनरेशन' मे नही।

पाठ्यक्रम, परीक्षा-पद्धति, पाठन-उपकरण, साधन-सुविधा, प्राइवेट ट्यूशन, अनेक प्रकार की 'लेबल युक्त' शालाएँ, भाषा, राजनैतिक हस्तक्षेप, जनसंख्या, बेरोजगारी इत्यादि अनेक समस्याओ के साथ सरकार की समस्या को मिलाकर देखने मात्र से छात्र की मूल समस्या के कारण का निराकरण नही होगा। इस दृष्टि से भी मैं अनेक विचारको की असहमति प्राप्त करता हूँ क्योकि मैं सरकार को 'बाइ प्राडक्ट' मानता हूँ। स्वस्थ व्यक्ति और स्वस्थ समाज हो तो सरकार कभी अस्वस्थ नही हो सकती।

इस छात्र समस्या को मात्र साधन, सरकार और स्वयं छात्रों की सीमा से अलग करके केवल अध्यापक और अभिभावक—इन दो किनारों मे, जिनके बीच छात्र की जीवन-सरिता प्रवाहित हो रही है—उन किनारों मे, मुझे छात्र-

असन्तोष के कारण और निराकरण दिखाई देते हैं। ये दोनों किनारे ही जर्जर हो रहे हैं। परिणामस्वरूप छात्रों की जीवन-सरिता या तो बाढ़ ग्रस्त हो रही है या फैलकर छिछली हो रही है। हमें इन किनारों को मजबूत करना होगा। उनकी दिशा निर्धारित करनी होगी। उसके बाद उपकरणों के बांध बांधने होंगे। फिर चाहे उद्दण्ड से उद्दण्ड छात्रों की उद्दामधारा को बेधड़क उसमें प्रवाहित होने दीजिये, देखें, कैसे हानि होती है?

कबीर को यह गौरव था कि उसने 'राम-नाम रंग डारि चदरिया' और यहाँ तक कि 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया'? क्या कबीर के आत्म-विश्वास के बराबर आज का शिक्षक साहस के साथ घोषित करने को तैयार है? कि 'शिक्षक-रंग' रंग डारि चदरिया' क्या शिक्षक के उस शाश्वत रंग की अनुभूति शिक्षक कर सका? कबीर 'प्रीचर' या 'टीचर' नहीं। हम 'टीचर' हैं, 'प्रीचर' नहीं। टीचिंग और प्रीचिंग के समन्वय में मुझे छात्रों की तथा शिक्षा क्षेत्र की सभी समस्याओं का समाधान साफ नजर आ रहा है। अर्थात्, एक सार्वदेशिक, सार्वकालिक (मात्र समसामयिक नहीं बल्कि शाश्वत) जीवन-दर्शन की दिशा में मानस अनुप्राणित करते हुए ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी विषयों का शिक्षण प्रदान करना प्रीचिंग और टीचिंग के समन्वय का सूत्र है। आज के छात्र की झोली में हमने कितनी-कितनी, कैसी-कैसी अनोखी-अद्वितीय सिद्धियाँ और निधियाँ उँडेल कर रख दी हैं उसके कदमों में बिखेरकर धर दी है—कला, वाणिज्य, विज्ञान, तकनीक, उद्योग आदि सभी दिशाओं में। लेकिन, उस सारी *निधि-रिद्धि-सिद्धि को बटोरने-समेटने-बाँधने के लिए किसी एक अन्तर्विरोध* रहित (without contradiction) जीवन-दर्शन का सुदृढ़ सूत्र हमने उसे नहीं दिया कि जिससे बाँधकर उस सम्पत्ति को मजबूती के साथ अपनी जीवन-यात्रा में वह अन्त तक ले जा सकता? अतः उस दार्शनिक धागे से—डोर से—बँधने की कमी के कारण वह सम्पत्ति बिखर रही है। द्वितीय महायुद्ध के बाद आने वाली नई पीढ़ी को समूचे विश्व में गजब की तेज गति से स्वतन्त्रता, समानता, सम्पत्ति, समृद्धि आदि सब कुछ मिला किन्तु जीवन-दर्शन की एक कड़ी नहीं मिली जिसकी रिक्तता ने विशृंखलता और उच्छृंखलता उत्पन्न की। अतः जब तक टीचिंग के साथ-साथ घुट्टी की तरह घुली-मिली कोई दार्शनिक खुराक प्रीचिंग के रूप में छात्रों को नहीं मिलेगी तब तक छात्र-असन्तोष का निराकरण सम्भव नहीं होगा।

हमें शिक्षा में क्रांति की बात करनी है—क्रांति लानी है। क्या कबीर, गाधी और बुद्ध, ईसा आदि क्रांतिकारी नहीं थे? क्या वे शिक्षक-तत्व से शून्य थे? बस, इन्हीं दिशाओं में सोच-समझकर हमें क्रांति लानी है। छात्र-असन्तोष को दूर करने के लिए अध्यापकों की रोटी-रोजी और अध्यापकों के असन्तोष को

ध्यान मे रखने वाले विचारको को यह सोचना ही होगा कि रोटी-रोजी और उपलब्धियो की शर्त पर क्राति नही आती। मार्क्स ने यह शर्त नही रखी थी कि उसे सम्पूर्ण सुविधाएं मिलेगी तभी वह जीवन-दर्शन देगा। गाधो और दयानन्द ने भी ऐसी शर्तें नही रखी थी। भगतसिंह और सुभाष बलिदान के दाँव पर खेले थे—किन्ही शर्तो पर नही। शर्तों की बुनियाद पर क्राति नही होती। अत: शिक्षा मे क्राति लाने की आकाक्षा रखने वालो को, छात्र-असन्तोष की बुनियादी समाधान की बात करने वालो को सबसे पहले शिक्षको की एक ऐसी 'जमात' तैयार करनी होगी जिसमे क्राति की आग सतत् सुलग रही हो, जिसका अगारा 'मूल्यविहीन वायु' के झोको से (कार्बनडाइ-आक्साइड से) कजला न जाये—ऐसा दहक रहा हो!

जब जीवन-दर्शन की बात आती है, तब समस्या उठती है अध्यापको के स्वयं के जीवन-दर्शन की। अनेक वादो के विवादो मे और अनेक रगो मे रगे हुए वैविध्य और वैचित्र्यपूर्ण अध्यापको का समूह छात्रो मे विसगति उत्पन्न करता है। यही कारण है कि धार्मिक-नैतिक शिक्षा का नारा हम लगाते हैं वह सफल नही होता। राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा प्रकाशित नैतिक जीवन की पुस्तक अछूती धरी रह जाती है। धार्मिक शिक्षा के नाम पर •ईसाई मिशनरी शालाएं, सनातन धर्म के नाम पर शालाएँ, तेरापंथी और बाईसपंथी सम्प्रदाय के नाम पर शालाएँ, आनन्द मार्ग की शालाएँ—ये सब एक तरफ है तो दूसरी तरफ धड़ल्ले से व्यावसायिक धरातल पर चलाई जाने वाली शालाएँ। उधर तीसरी तरफ राजनैतिक दलो और ट्रेड यूनियनबाजी के हथकण्डों का हस्तक्षेप। इस हस्तक्षेप की सफलता यह प्रमाणित करती है कि हमारे अपने क्षेत्र मे कोई रिक्तता (वैक्यूम) व्याप्त हो चुकी है जिसका निराकरण किये बिना छात्र-असतोष के कारण का निवारण नही किया जा सकेगा। अतः जीवन-दर्शन की ऐसी रिक्तता को दूर करने के लिए हमे उन विसंगतियो, बौद्धिक-बिखरावों, व्यावहारिक अन्तर्विरोधो को समझना ही होगा जो कदम-कदम पर हमारे समाज मे, समूचे विश्व मे बिखरे पड़े है। मनुष्य की आस्थाओ की वर्णसंकरता राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सभी स्तरो पर नई पीढ़ी को त्रिशकु बना रही है। अतः छात्रों की यह उच्छृ खलता-विश्रृखलता स्वाभाविक है। इसके निराकरण के लिए 'लेबल-मुक्त', अन्तर्विरोध मुक्त, व्यावसायिक मनोवृत्ति मे मुक्त, राजनैतिक दाँव-पेच से मुक्त'अध्यापको की कबीर और गांधी जैसी गृहस्थ संन्यासी 'जमात' क्रांतिकारी तैयार करनी होगी जो शिक्षा को स्वयं ही एक 'मिशन' मानकर जागतिक धरातल पर एकरूपता लिये हुए टीचिंग और प्रीचिंग का समन्वय प्रस्तुत करें। We must educate the educators in the line of educational mission.

जब छात्रो की जीवन-सरिता के दो किनारो मे से एक किनारा 'अध्यापक'

दिशावद्ध हो जाय तव अन्तर्विरोध और विखराव को दूर रखते हुए उसी दिशा में अभिभावक रूपी दूसरा किनारा भी दिशाबद्ध करना होगा। अभिभावकों की दृष्टि से समस्या पर विचार करने से समाधान की एक नई दिशा पर हमें विचार करना होगा। छात्रों में असन्तोष है, उग्रता है, अनुशासनहीनता है। थोड़ी देर के लिए इसके साथ यह भी मिला लीजिये कि समाज के हर क्षेत्र में असन्तोष, उग्रता, अनुशासनहीनता व्याप्त है। कल का पैदा हुआ छात्र आज का कुशल ब्लैकमार्केटियर, कुशल भ्रष्टाचारी, अव्वल स्वेच्छाचारी और अनाचारी है। आप कहते हैं उन्हें दण्ड दीजिये। किन्तु, मुझे इस दोष का मूल अन्यत्र दिखाई दे रहा है, कदाचित आप उसमें फिर सहमत न हों। किन्तु, मैं यह मानता हूँ कि 'दोष चोर का नहीं, चोर की माँ का है।' क्या हमारी माताओं का दूध ही काला पड़ चुका है, क्या उनका खून ही भ्रष्ट हो चुका है जो कालाबाजारी और भ्रष्टाचारी औलादों की संख्या बढ़ती जा रही है। आज की सन्तानें अभिभावकों की आकस्मिक घटनाएँ है, मात्र आकस्मिक घटनाएँ जो दुर्घटनाएँ सिद्ध हो रही हैं। हमें शिक्षा के क्षेत्र में अभिभावकीय दृष्टि से जो क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा—वह होगा—जागतिक धरातल पर नारियों का मानस-निर्माण। सही अर्थों में शिक्षित, सुसंस्कृत और परिपक्व नारियाँ पूरी मानव पीढ़ी की नस्ल सुधार सकती है। "War and aggression is in the mind of a man, not in his action यदि चीन हिंसक रैजिमेंटेशन करके एक नई पीढ़ी खड़ी कर सकता है तो क्या कारण है कि शान्ति और अहिंसा की सांस्कृतिक विरासत का ठेका लेने वाला हिन्दुस्तान अपनी अहिंसक, अनुग्र नई पीढ़ी का निर्माण नहीं कर सकता? अतः शान्ति शिक्षण—Education in non-violence—अर्थात् शान्तिमुखी सह-अस्तित्व के जीवन-दर्शन पर आधारित पाठ्यक्रम तैयार करते हुए उसके माध्यम से शान्तिमुखी सह-अस्तित्व से ओत-प्रोत नारी-मानस का निर्माण करते हुए सन्तोषी अनुग्र पीढ़ी के निर्माण की क्रान्तिकारी योजना को शिक्षा-क्षेत्र में क्रियान्वित किया जाय तो छात्र-असन्तोष के कारण का बुनियादी निवारण सम्भव हो सकेगा।

# समझ और संकल्प : कर्मक्षेत्र ही धर्मक्षेत्र

हम शिक्षक हैं ! शिक्षण हमारा व्यवसाय है, शिक्षा के क्षेत्र मे अपने-आप को उपर्युक्त सिद्ध करने हेतु हमने दुनिया भर की डिग्रियाँ, ट्रेनिंग सर्टिफिकेट्स, विशेष दक्षता प्रमाण-पत्र, आदि बटोर कर एक अंतिम सुख व सन्तोष की साँस ले ली है। यदि कुछ वर्ष तक कहीं अध्यापन-कार्य कर लिया तो उस सतृप्ति व संतोष की सांस सुखतर हो गई है। फिर यदि मनोनुकूल ग्रेड व प्रमोशन तथा स्थानान्तरण मिल गये तब तो वह साँस सुखतम की सीमा पर पहुँच गई। इससे अधिक तथा इसके अलावा हमारे कार्यक्षेत्र मे कुछ बौद्धिक, आन्तरिक, नैसर्गिक, सामाजिक, मानवीय उपलब्धियाँ भी हमारे सुखतम की सीमा में आ सकती हैं—यह हमारे सोचने की सीमा से बाहर है ! ऐसी स्थिति केवल शिक्षण-क्षेत्र मे ही हो, ऐसी बात नहीं है ! सभी कार्यक्षेत्रो मे प्रकारान्तर से न्यूनाधिक मात्रा मे यह तथ्य देखने को मिलेगा ! क्यो न मिले ? आज का युग भौतिकवादी जो कहलाता है ! पश्चिम का प्रभाव जो उस पर बतलाया जाता है ! भौतिकवादी युग मे ये ही सब महत्त्वाकाक्षाएँ एक व्यक्ति की हो सकती हैं। और जब यही सब कुछ है तो उसकी शिकायत करने का हमे क्या हक है ?

इस प्रसंग में मेरी मान्यता कुछ भिन्न है ! युग, स्वयं में न तो भौतिकवादी होता है, न अध्यात्मवादी, न पश्चिम का ठप्पा है; न पूर्व की मोहर ! प्रत्येक युग में, प्रत्येक दिशा में दोनों ही प्रकार की आस्थाओं के व्यक्ति हुआ करते हैं। यदि रामायण काल में राम आध्यात्मवादी थे तो उसी काल में रावण भौतिकवादी था। फिर महाभारत काल मे कृष्ण आध्यात्मवादी था तो कंस उसी काल में भौतिकवादी था। देवासुर संग्रामों की कथा सागर मन्थन की भूमिका आदि भी यही तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि किसी भी युग को किसी एक पक्ष से संयुक्त कर देना ऐतिहासिक चिन्तन की दृष्टि से भूल कहलाएगी। खैर, फिर भी, चलो, मान लिया जाय कि यह युग भौतिकवादी युग ही है ! तो, महान भौतिकवादी पाश्चात्य विद्वान् 'मिल' के शब्दों मे गहराई से झांक कर देखिएगा क्योंकि भौतिकवादी बात पर तो भौतिकवादी विश्वास करेगा—

"It is better to be a human being dis-satisfied than a pig-satisfied; Better to be a Socrates dissatisfied than a fool satisfied;

And if the pig, or the fool, are of different opinion, it is because they know only their own side of question."

अर्थात् बौद्धिक दृष्टि से, *आन्तरिक-मानसिक दृष्टि से विकास की 'तर'* से 'तम' सीमा तो भौतिक सुखों की तुलना में भौतिकवादी दार्शनिक द्वारा भी स्वीकार की गई है ! केवल अपनी ही हित-चिन्तन की सीमा से आगे बढ़ कर दूसरों की दृष्टि व हित चिन्तन को मान्यता देते हुए ऐसी विचार प्रणाली-कार्य प्रणाली को स्वीकार करना कि स्वयं से अधिक दूसरे का ख्याल रखा जावे इस कसौटी पर जानवर-मूर्ख और विद्वान् को परिभाषित करना भौतिकवादी दार्शनिक द्वारा भी स्वीकार किया गया है !

बस, यही, आन्तरिक दृष्टि की उपस्थिति ही, व्यक्ति की आध्यात्मिकता का प्रमाण है ! अतः हर व्यक्ति आध्यात्मिकता को लिये हुए जी रहा है, भले ही, उसकी उजागरता की मात्रा एक-दूसरे की तुलना में न्यूनाधिक क्यों न हो ! किन्तु, कोई व्यक्ति इससे शून्य है—ऐसा मुझे आभास नहीं होता क्योंकि—

(1) एक करोड़पति की इम्पाल कार में बैठे हुए बुलडॉग के सुख को देखकर, पैदल पसीना पोंछ-पोंछ कर चलता हुआ दुःखी पदयात्री (चाहे विद्वान् हो, चाहे गाड़वाला का गड़रिया हो) बुलडॉग बन जाना कबूल नहीं करता, भले ही वह खुद मानववेश में आन्तरिक विकास की कमी के कारण व्यावहारिक धरातल पर सहमानव के लिए किसी बुल डॉग से कम न हो ! (जिसका यह आन्तरिक विकास क्रम रुक जाता है वह समाज में 'बुलडॉग'-सा व्यवहार करता है किन्तु भ्रमवश उसे समझने, स्वीकार करने और उस स्थिति को दूर करने के लिए तैयार नहीं होता ।) किन्तु ऐसा व्यक्ति भी कार में बैठे बुलडॉग से ईर्ष्या नहीं करता !

(3) एक इन्सानदूसरे इन्सान का जानी दुश्मन है । कहते हैं कि दोनों भौतिकवादी हैं । अहिंसा नहीं जानते । उन दोनों को एक बियाबान (जंगल) में छोड़ दीजिए जहाँ वे दोनों दिन भर मार्ग खोजते थके-हारे कहीं एक जगह मिल गये हों तब उन क्षणों में उनमें जो आन्तरिक परिवर्तन आएगा, कदाचित् वह उन्हें भौतिकवादी संज्ञा से मुक्त करा देगा और भावना की उस सीमा में प्रवेश करा देगा जिसे हम आध्यत्मिकता की संज्ञा देकर दुर्लभ घोषित करते हैं ।

(4) भौतिकवादी युग में भी तथा वेतन, प्रमोशन, और पद मुखी युग में भी; जब प्रकाशचन्द्र सेठी को केन्द्रीय राज्य मंत्री से हटाकर मध्य भारत का केवल प्रान्तीय मुख्य मंत्री बना दिया गया तब अशोका होटल के मुख्य रसोइये के वेतन की तुलना में उन्होंने अपने आपको हीन नहीं समझा और न ही रसोइया बनना मन-ही-मन स्वीकार किया । (नवभारत टाइम्स में तत्कालीन समाचार)

अतः हर व्यक्ति भौतिक है, हर व्यक्ति आध्यात्मिक है । अन्तर केवल अनुपात का है । अवआ ावश्यकता इस बात की है कि उस अनुपात को आध्या-

त्मिकता की दिशा मे कौन कितना बढाता है। (यहाँ आध्यात्मिकता को यज्ञ-हवन-कीर्तन; देवी-देवता, पूजन तीर्थयात्रा, अखण्ड पाठ, व्रत अनुष्ठान आदि की परम्परागतवादी संकीर्ण सीमाओ मे परिभाषित नही किया जावे। **आधिदैविकता और आध्यात्मिकता के अन्तर को समझा जावे)**

प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिकता के इस अनुपात को बढा कर जीवन की रोटी-रोजी की उपलब्धि के साथ-साथ अपने ही दैनिक जीवन में कुछ अन्य बौद्धिक, नैसर्गिक, सामाजिक, मानवीय विस्तृत उपलब्धियो का सुख भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब उसका दृष्टि-परिवर्तन, उसके सुख-दुःख, मान-अपमान, सफलता-असफलता, हानि-लाभ, आशा-निराशा; उचित-अनुचित; सत्य-असत्य तथा अभाव-उपलब्धि की परिभाषाएँ बदले, जीवन मे उसके जीने-मरने की ही परिभाषाएँ बदलें। **कुछ लोग जीने की तैयारी करने के लिए 'मरते' (मुरते) हैं; कुछ लोग मरने की तैयारी के साथ जीते हैं।**

किन्तु ऐसा परिवर्तन आसान नही होता। इसके लिए विशेषतया दो-तीन आधार माने जाते है :—

(1) ऊँचे, उदार, संस्कारयुक्त, विरासती वातावरण मे पालन-पोषण द्वारा परिवर्तन। (जैसे रवीन्द्रनाथ टैगोर)।

(2) अपवाद स्वरूप (Exceptional) किसी अज्ञात जन्मजात अंकुरण (Instinct) के प्रस्फुटन द्वारा (जैसे—ईसा)।

(3) किसी विशेष घटना अथवा दुर्घटना द्वारा (जैसे—बुद्ध, अशोक, दयानन्द, विवेकानन्द)।

किन्तु ये विशेष आधार जीवन के सामान्य निर्देशक तत्त्व नही बन सकते। **हमें समाज के उस साधारण जनमानस की बात करनी है जिसे ये विशेषताएँ प्राप्त नहीं है और उसे हमें आध्यात्मिक अनुपात की ओर बढ़ाना है।** अतः साधारणतया यह दृष्टि-परिवर्तन व्यक्ति के जीवन मे तब आता है जब—

(1) सबसे पहले वह इस रिक्तता को महसूस करे कि अभी तक जीवन मे उसने जो कुछ समझा है, सीखा है, प्राप्त किया है जिस दृष्टि से, मात्र वही दृष्टि सब कुछ नही है, मात्र वही अन्तिम नही है, मात्र वही सर्वोत्तम नही है, मात्र वही गौरव का विषय नही है बल्कि उससे भी कही अधिक बहुत कुछ इस जीवन मे है जिसे वह अपनी सीमाओं में ही चाहे तो प्राप्त कर सकता है **बशर्ते पहले उसको प्राप्त करने के लिए ललक और जिज्ञासा उत्पन्न हो।**

(2) अपने से कुछ उत्तम, कुछ बेहतर, कुछ श्रेष्ठतर किसी दूसरे मे दिख रहा है या दिखाया जा रहा है तो उसे ईर्ष्या अथवा हीन भाव से भ्रमित न होकर 'मुदिता' का भाव ग्रहण करते हुए, गुण-ग्राहकता की दृष्टि से विनम्र निश्छल भाव से उसका गुण ग्रहण करें।

(3) कई बार मनुष्य में साहस, दृढ़ता, शक्तिमत्ता, वाक्-चातुर्य जैसे गुण भी अज्ञान तथा भ्रम और आत्म-प्रवंचना के रूप में आ जाया करते हैं जिसके कारण वे गुण भी अवगुण सिद्ध होते हैं। अतः इस आत्म-प्रवंचना की स्थिति को पहचानने के लिए आत्म-निरीक्षण, आत्म-शिक्षण और आत्म-विश्लेषण की प्रक्रिया को समझकर आत्म-ज्ञान को सही अर्थों में सार्थक करते हुए अपने गुणों को नकारात्मक प्रवृत्ति से बचाकर सकारात्मक प्रवृत्ति में लगाएं।

(4) गुणात्मक, सकारात्मक वृत्ति बनाने से व्यक्ति में एक ऐसा नैतिक साहस आता है, ऐसी मानसिक दृढ़ता आती है जो आत्म-प्रवंचना वाले साहस, दृढ़ता आदि से भिन्न होती है। यह सकारात्मक मानसिक दृढ़ता, फिर, व्यक्ति के मान-अपमान, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि की दृष्टि में परिवर्तन करते हुए अपनी मान्यताओं पर दृढ़ रहने की क्षमता प्रदान करती है। यह क्षमता उस आत्म-प्रवचना प्रदान करने वाली क्षमता से भिन्न होती है। इस भिन्नता को समझते हुए व्यक्ति अपनी सही दृढ़ता का विकास करे। यह विकास माला-मणिया, पूजा-पाठ आदि के माध्यम से नहीं बल्कि अपने व्यावहारिक-व्यावसायिक कार्यक्षेत्र के माध्यम से करें। अर्थात् व्यक्ति अपनी गुणवत्ता अपने कार्यक्षेत्र में प्रदर्शित करें। धैर्य, सूझबूझ, सहन शक्ति, सहयोग, दृढ़ता, क्षमता, उदारता आदि का प्रयोग व प्रदर्शन अपने दैनिक कार्यक्षेत्र व व्यवहार क्षेत्र में करें। जब-जब उसे प्रतिशोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, असहयोग आदि नकारात्मक शक्तियाँ दबोचना चाहे तब-तब वह उन्हे निरस्त करे, सकारात्मक शक्तियो द्वारा शमन करे और यह रिकार्ड बनाये कि ऐसे कितने-कितने व कौन-कौन से अवसरो पर जब धैर्य, सहयोग, साहस, दृढ़ता जैसे गुणो को आलस्य व बहानेबाजी के कारण अथवा नकारात्मकता के हावी हो जाने के कारण सहकर्मियो के बीच अपनी सकारात्मक शक्तियों के साथ प्रयोग व प्रदर्शन करने मे वह असफल हो गया। उसे पुनः आगामी घटनाक्रम मे इस दृष्टि से सफल होना है—इसका वह प्रयास करे। निर्मल भाव से अपनी भूल को स्वीकार करे।

इस प्रकार के प्रयास, अभ्यास और आत्म-निरीक्षण पद्धति से व्यक्ति अपना दृष्टि परिवर्तन करे। इस प्रकार की प्रयत्नशीलता द्वारा साधारण व्यक्ति भी उस विशेषता को प्राप्त करे जो अपवादस्वरूप विशेष व्यक्तियों को प्राप्त होती है।

यह सब कुछ करने के लिए एक तथ्य भले ही रस्किन के शब्दों में समझ लिया जावे कि "गुणात्मकता कभी संयोग से नहीं आती। वह हमेशा कठिन संकल्प और प्रयत्न का परिणाम होती है। हम में श्रेष्ठतर बनने का महासंकल्प होना चाहिए।"

ऐसी समझ जागृत कर लेने पर फिर अधिक-से-अधिक अध्ययन किया जाय,

मनन किया जाय और उस मनन-विश्लेषण को अपने कर्मक्षेत्र में क्रियान्वित किया जाय तब वह दृष्टि परिवर्तन सम्भव हो सकेगा फिर वह नैसर्गिक सुख, वह आन्तरिक उपलब्धि का सुख हम अपने कार्यक्षेत्र से प्राप्त कर सकेंगे और तब हम अपने कार्यक्षेत्र को अपनी देन भी दे सकेंगे और तभी हम आध्यात्मिकता की बढ़ती हुई आनुपातिकता की ओर अग्रसर हो सकेंगे और तभी हम अपने आपको 'मानव वेश में बुलडॉग' कहलाये जाने से बचा लेंगे। और तब केवल डिग्रियाँ, वेतन, प्रमोशन और पदमुखी भौतिकवादी युग में भी हमारे कार्यक्षेत्र में बौद्धिक, आन्तरिक, मानवीय उपलब्धियाँ भी हमारी सुखतम की सीमा में मानी जाने लगेंगी और तभी हमारा कार्यक्षेत्र ही हमारा धर्मक्षेत्र सिद्ध होगा।





**योगेन्द्र कुमार रावल**

जन्म दि० : 27 मई 1937

जन्म स्थान : बीकानेर (राज०); मूल वंशज इन्दौर (म० प्र०)

शिक्षा : इन्टर साइन्स 1954 (इसके बाद परीक्षा प्रणाली से उकताई)

कार्यक्षेत्र : शैक्षणिक व सामाजिक संस्थाओं का संचालन व संयोजन तथा अध्यापन

लेखन : सन् 1960 से निरन्तर लेखन

प्रकाशन : विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित

वार्ताएं : आकाशवाणी बीकानेर से वार्ताएं प्रसारित

अभिरुचि : शिक्षण में विभिन्न प्रयोग तथा नई पीढ़ी का मानस निर्माण

वैशिष्ट्य : कुशल वक्ता, गम्भीर लेखक, सुलझे विश्लेषक प्रेरक वार्ताकार और प्रयोगशील शिक्षक तथा स्वतंत्र चिन्तक।